परिक्षेप

[राजस्थान के सृजनशील शिक्षकों का विविध रचना संग्रह]

सम्पादक

ज्ञान भारिल्ल : प्रेम सक्सेना

शिक्षा विभाग राजस्थान के लिए

चित्रगुप्त प्रकाशन
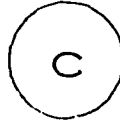
पुरानी मन्डी, अजमेर

प्रकाशक :
चित्रगुप्त प्रकाशन
पुरानी मन्डी, अजमेर

द्वारा
शिक्षा विभाग, राजस्थान
के लिए प्रकाशित

प्रथम संस्करण
सितम्बर 1967

मुद्रक :
वैदिक यन्त्रालय
केसरगंज, अजमेर

शिक्षक - दिवस '६७

परिशेष

अनुक्रम

आमुख

राजस्थान के सृजनशील शिक्षकों की उत्तम कृतियों के प्रकाशन के लिए शिक्षक-दिवस से अधिक उपयुक्त और कौन-सा अवसर हो सकता है ? सभी विचारशील व्यक्ति संभवतः इस कदम का स्वागत करेंगे ।

शिक्षा-विभाग, राजस्थान ने उत्तम श्रेणी के शिक्षकों की श्रेष्ठ कृतियों के प्रकाशन मे योग देने का निश्चय किया है । इसके अन्तर्गत इस प्रकार के प्रकाशन राजस्थान के अच्छे प्रकाशकों को प्रकाशन के लिये सौंपे जायेंगे । मुझे यह कहते हुए बड़ी प्रसन्नता है कि प्रकाशक इस कार्य में तत्परता से योगदान दे रहे हैं । इस वर्ष समय बहुत कम था, परन्तु इतने थोडे समय में इस पुस्तक के प्रकाशन में विशेष लगन से कार्य कर प्रकाशक ने पुस्तक का समय पर प्रकाशन संभव बनाया । वे धन्यवाद के पात्र हैं ।

मुझे आशा है कि इस प्रकाशन तथा शिक्षकों द्वारा लिखित ग्रंथों के प्रकाशन में सहयोग देने की नीति से शिक्षकों मे लिखने के प्रति उत्साह संचारित होगा । अन्य शिक्षक, छात्र तथा सभी विचारशील व्यक्ति इन पुस्तकों को पढ़ेंगे तथा इससे आनन्द उठाएंगे, ऐसी मेरी कामना है ।

अनिल बोर्दिया
अपर निदेशक
प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा,
राजस्थान

शिक्षक-दिवस १९६७

उर्वरा है मरुधरा

●

श्याम श्रोत्रिय

स्वर्णवर्पिन-स्वर्ण-सिकता-संयुक्ता, पीत-हरित विस्तृत वनराजि शोभिता, ताम्र-नील-वर्ण उत्तुंग अर्बुदगिरि-शिखरों से आच्छादित, बहुमूल्य धातु एवं खनिजों को अपने मृदुल अंक में समेटे, भारत के विराट् वक्ष पर कलित कंठहार के सुन्दर सुमेरु के समान, युग-युगों से तृषित, किन्तु उर्वरा-मरुधरा ! मरुधरा !

रुपहली-रजत किरणों में नहाये सहस्रों जादू-भरे दृश्यों की रंगस्थली ! मोठ-बाजरी के लहलहाते खेत—क्षितिज के पास कौमुदी-स्नात धूम के ऊपर—गांव का दूरागत संगीत—थका हुआ, श्रम से चूर, घर की ओर लौटने वाला गाड़ीवान एक टीस-भरी टेर के साथ गा उठता है—

'आ तो सुरगां नै सरमावै, ई पर देव रमण नै आवै,
ई रो जस नर-नारी गावै—धरती धोरां री
धरती धोरां री ।'

और 'धोरे' मौन तपस्या में लीन मनी के समान उसकी टेर से विमुख है, किन्तु किसी विरह-व्यथित वादक की वंशी की दर्द-भरी पुकार क्षितिज के ओर-छोर हिलाते हुए मौनी वनस्पतियों में हलचल उत्पन्न कर रही है। गांव के दीपक टिमटिमाकर ज्योत्स्ना-सागर में बुलबुलों के समान लुकछिप रहे हैं। अनन्त नीलाकाश के विस्तृत वितान के तले दूर-दूर तक फैले खेतों में छाई काकड़ी और मतीरे की बेलें पथिक के क्षुधातुर मन में तृष्णा जगा देती है—

'फोगां, खोखा कैर काचरा इण धरती रा हीरा ।
म्हारी जनम भूमि रा मेवा मीठा बोर, मतीरा ॥'

और वनस्पतियों का बूढ़ा सरदार—यह 'खेजड़ा'—इसके समान त्यागी और तपस्वी कौन होगा ? मरुभूमि के खारे पानी को आंसुओं के समान पीकर इसने जीना सीखा है। असंख्य गगनचुम्बी अट्टालिकाओं और अभ्रस्पर्शी

राजमहलों के सुख-दुख के क्षणों की इसने साक्षी भरी है। आबू की हिमानी घाटियों में, अजयमेरु के आकर्षक अर्णव सागर की लहरों में, हल्दीघाटी और जावरमाला की रक्तरंजित रेत में, पुष्करराज, गलता और कोलायत की सजीली वन-वीथियों और सरस उर्मियों में, चित्तौड़ के कीर्तिस्तम्भ से टकराने वाले पवन के झोंकों में, जौहर की उड़ती हुई पवित्र भस्म में, आमेर के शौर्य-अवशेषों में, 'बीकाणों-जोधाणों-जयपुर-अलवर-टौंक-सिरोही' की रंग-भरी महफिलों और चकाचौंध करने वाले पुष्कल प्रकाश-आवरणों में आज भी इस इतिहास के साक्षी 'खेजड़े' की असंख्य सुख-दुःख की श्वास-निश्वास घूम रही हैं।

मरुधरा—वीरों की शौर्य-सिंचित, रक्त-रंजित, बलिदानों और विश्वासों की जन्मभूमि !

मरुधरा—त्याग, तपस्या, साधना और स्वर्णिम संस्कृति की धात्री !!

मरुधरा—जौहर की ज्वाला से धधकती, शत्रु-शोणित-स्नात खड्गों की कीर्ति-रश्मियों में चमकती, केसरिया बाने में इतिहास के पन्नों पर गमकती आन-बान-शान की धरती !!!

इतिहास के पन्ने पलट रहे हैं—कौन ? दिल्लीपति-महाराज पृथ्वीराज चौहान !

जननी जन्मभूमि के सच्चे सपूत, तुम्हारी कीर्तिगाथा को कौन भुला सकता है ? शब्द-वेध संधान पर अपने देश के गौरव की रक्षा करने वाले, शत्रु-सैन्य को हुंकारों से हिलाने वाले, परम आत्मविश्वासी, पौरुष के पुञ्ज, 'गौरी' को इक्कीस बार हराकर छोड़ने का तुम्हारा भगवान परशुराम जैसा अतुलनीय कृत्य आज भी याद है !

महाराजा रत्नसिंह—महारानी पद्मिनी !!

अपनी कीर्ति और मान-रक्षा के लिये सर्वस्व समर्पित करने वाले। मरुभूमि के अतुलनीय रत्न। गोरा-बादल की स्वामिभक्ति और मरण-प्रीति के साथ तुम अमर हो। सतीत्व-साधिका, जौहर-प्रज्वलिता कंदर्प सीमंतिनी का गर्व गलित करने वाली अनन्य रूपवती रमणी। सोलह सहस्र राजपूत रमणियों के चिरसुहाग की स्मृति में बसी हुई—तुम अमर हो। प्रज्वलित अंगारों की आग आज भी उसी प्रकार धधक रही है।

साँगा—महाराणा संग्रामसिंह !

तुम्हारे अस्सी घावों की पीड़ा आज भी मरुधरा के विश्वासी मन में

कमक रही है। बाबर के घुड़सवारों की भगदड़ आज भी सुन पड़ रही है। तुम्हारा गौरव—तुम्हारी गरिमा, अब तक याद है।

प्रताप—महाराणा प्रताप !

जननी जन्मभूमि के परम लाडले, वीर वसुन्धरा के विश्वासपात्र वत्स। तुम्हारे विछोह से मरुमाँ आज भी व्यथिता है। मरुधरा की गोद के शृंगार, स्वतन्त्रता के सच्चे साधक, 'स्वर्गादपि गरीयसी' मातृभूमि के सफल मातृत्व के प्रतीक। अरावली के उन्नत शिखरों पर सजाये गये रण, जननीपद में किया गया सर्वस्व समर्पण जग-वैभव उत्सर्ग आज भी याद है। तुम्हारे एक इशारे पर रणपथ को रक्त-रंजित करने के लिये आज भी शत-शत खड्‌गधारे लिये वीर बाट जोह रहे हैं।

राठौड़ दुर्गादास—

स्वामिभक्ति के उज्ज्वल आदर्श। घोड़ों की पीठ पर युद्ध-क्षेत्र में बिताई गई अनेक रातें, स्मृति-आकाश के तारों से आज भी तुम्हारी कीर्ति-किरणें विकीर्ण कर रही हैं। मरुधरा की गौरवगाथा अक्षय अमिट बनाने वाला तुम्हारा सर्वस्व समर्पण, तुम्हारा स्वर्गिक बलिदान—'जोधाणों' के कण-कण में व्याप्त है।

कौन ! कौन !! हाडी रानी !!!

यौवन के कनक-प्रभात में जीवन-ज्योति बुझाकर भी कीर्ति की अरुणिमा फैलाने वाली वीरांगना ! मरुधर-वासिनी वीर रमणियों के शौर्य-त्याग और बलिदान की प्रतीक। तरुणाई के सुहाग-सिन्दूर से चूंडावत-पति का विजय-तिलक करने वाली यशस्वी नारी तुम्हारा अमृत-सिक्त समर्पण शीश समस्त देश के मन-मन्दिर में मुस्कराती तुम्हारी 'सेनाणी' है।

धाय माँ !

देशभक्ति-विह्वला, स्वामिभक्ति-समन्विता, स्वातन्त्र्य की सच्ची साधिका पन्ना धाय ! हाय अपने कलेजे के टुकड़े को तुमने अपनी आँखों के सामने टुकड़े-टुकड़े होते देखा। अपनी कोख सूनी कर तुमने माँ मरुधरा की गोद सूनी होने से बचाई। यह धरती तुम्हारे त्याग से किस प्रकार उऋण हो सकेगी ? तुम्हारे पुण्यरक्त से सींची गई यह धरा, तुम्हारे ज्वलन्त बलिदान का कोई भी प्रतिदान नहीं कर सकेगी।

\+ \+ \+

स्मृति के दूसरे छोर पर—

एक प्लेट नमकीन

भगवतीप्रसाद व्यास

देखा जाता है, नमकीन का शौक बढ़ता जा रहा है—भोजन का अधिकांश नमकीन बनता जा रहा है। शौक और फैशन के नाम पर नाश्ते नमकीन के होने लगे हैं। किसी भी होटल में देखिये, नमकीन के थाल काँच की आलमारियों में सजे मिलेंगे। ग्राहक एक प्लेट नमकीन, एक समोसा, एक कचौरी या नमकीन बिस्किट माँगते आयेंगे। मिठाई या मीठे का नाम नहीं। रसगुल्ले, गुलाबजामुन, इमरती, मोतीचूर, घेवर, कलाकन्द या रबड़ी का कोई नाम नहीं लेता। बाज़ार की आम सड़कों की तरफ मुंह किये हुए किसी भी होटल में, जो आज का एकमात्र उपाहार, जलपान या क्षणिक विश्राम का एक स्थान है, इन रसपूर्ण मीठे पदार्थों का अभाव ही मिलेगा। आपको अगर इनमें से किसी एक या अनेक की अत्यन्त आवश्यकता दैवात् पड़ जाय, तो किसी गली-कूचे में, लालटेन के मद्धिम प्रकाश में, किसी पुराने हलवाई की दुकान पर ये मिल सकते हैं, वह भी दिन भर की मक्खियों की धमाचौकड़ी के मैदान के बने हुए।

लगता है, यह युग ही कुछ नमकीन का है। भूल तो उन पंडितों से हो गई, जिन्होंने सौन्दर्य को 'लावण्य' की संज्ञा दी। हज़ार बार प्रयोग कर लेने पर भी, इस लावण्य शब्द का अर्थ-सौन्दर्य समझ में नहीं आया। लावण्य का सही अर्थ तो नमकीन है। आपने भी कई बार किसी सौन्दर्य को नमकीन विशेषण दिये जाते हुए सुना होगा। परन्तु आपको इस विशेषणदाता के शिष्ट होने में सन्देह हुआ होगा। समझ में नहीं आता, उसी अर्थ में लावण्य शब्द के प्रयोग को शालीनता, विद्वत्ता और साहित्यिक रुचि का प्रमाण माना जाय और नमकीन को हीनता का? शब्द के प्रति मोह और सम्मान तथा अर्थ के प्रति हीनता और घृणा, यह न्याय तो नहीं कहा जा सकता! फिर सौन्दर्य को नमकीन कहने का मार्ग प्रशस्त तो उसे लावण्य की संज्ञा देने वालों ने ही किया।

इतना अवश्य है कि लावण्य शब्द का क्षेत्र सीमित था, और है। नमकीन व्यापक होता जा रहा है। नमकीन कविता कहते कॉलिज के छात्रों को सुना गया है। 'नमकीन नाम' कहते आपने भी शायद सुना हो। चार छः युवक साहित्य-प्रेमियों को नवीन प्रयोगवादी और अकविता की प्रशंसा करते 'नमकीन उपमा' कहे जाने की भनक कान में पड़ी है। इन युवक साहित्य-विदों के लिए पुरानी कविताएँ उसी तरह त्याज्य है, जिस तरह शक्कर या गुड़ पर बनी मिठाइयाँ। आज नमकीन चाहिए—नया लावण्य।

प्राचीन तत्त्वज्ञों ने आत्मा की मिठास पर ध्यान केन्द्रित किया था। आज का नमकीन बाह्य पर केन्द्रित है। जो दृश्य नहीं वह असत्य है और दृश्य प्रमाणित सत्य। अगर ऐसा नहीं होता, तो मृगकस्तूरी की अदृश्य गंध से मोहाविष्ट होकर जंगल-जंगल भागता नहीं फिरता, उसे पा लेता, जो उसी के पास है—दृश्यमान सत्य। आत्मा का लावण्य मनुष्य को जड़ बना देता है, जैसे प्राचीनकाल के तत्त्वज्ञानी योगी और तपस्वी। जड़ता में संसार संसार नहीं रहे, गति रुक जाय और यह सृष्टिकर्त्ता की भावना के विरुद्ध है, उस विराट चरम की प्रक्रिया का खण्डन है। तात्पर्य यह कि अदृश्य का लावण्य असत्य, अशिव और असुन्दर है। दूसरे शब्दों में विषय कुण्ठा है, जड़ता है, अतः मिथ्या। शरीर की सुन्दरता—नमकीन का मोह इसी दार्शनिक सत्य का परिणाम है। आज के प्रसाधन-साधनों के विस्तार के पीछे यही दार्शनिक दृष्टि है। वस्तु लावण्य की मज्जा विश्वात्मा की अर्चना है, सत्य से लावण्य (सौन्दर्य) का संयोग और उसका उपयोग शिवम् का मार्ग।

एक बात और। मध्ययुगीन लावण्य घर की महत्ता माना जाता रहा—एकाकी और एकान्तिक। आज का नमकीन खुले बाज़ार में है। युग खोज का है और खोज प्रकाशन—दर्शन के लिए। व्यक्ति और व्यक्तित्व स्पष्ट होना चाहिए। (Open to all) ज़माना था, लोग आवश्यकता होने पर पड़ोसी से आटा-घी-शक्कर आदि उधार माँगना बुरा नहीं मानते थे। किन्तु नमक माँगने में संकोच होता था। आज यह बात नहीं रही। भोजन छिपा कर नहीं किया जाता, जो बुजुर्गों का उसूल था। आज खुले बाज़ार में होटल की टेबुल पर बैठकर नमकीन का स्वाद लेना असामाजिक बात नहीं।

रहीम के उस दोहे को भी थोड़ा सुधारने की आवश्यकता अनुभव होने लगती है, जिसमें कहा गया है—'पानी गये न ऊबरे मोती मानस चून।' इसमें पानी के स्थान पर नमक करना पड़ेगा। पानी तरलतार्थक है और तरलता सरसता के निकट और फिर सरसता मिठास के बहुत पास। आज के

युग में मिठास का मूल्य नहीं, नमकीन का महत्त्व है। और इसीलिए पानी के स्थान पर नमक चाहिए। मात्राओं के हिसाब से यह अशुद्ध अवश्य होगा। पर आज कविता और मात्रा का कौन-सा सम्बन्ध है ? वह तो मात्रातीत है और फिर रहीम कहाँ हैं जो नाराज़ होंगे ।

याद आया, किसी अंग्रेज़ लेखक ने महापुरुषों को Salt of the earth कहा है। इस लेखक के तत्त्वज्ञान की दाद देनी होगी।

सम्पादकों को भी नमकीन के प्रभाव से आहत देखा जाता है। उन्हें भी पुराने, मिठास की गन्ध आने वाले नामों से उतना लगाव नहीं होता। गंगाप्रसाद, राधामोहन, आदि के स्थान पर राकेश, राजेश सुमनेश, काकेश अथवा सरस्वती, अनुसूया, गंगा, यमुना आदि के बजाय अंजना, रंजना, खंजना व्यंजना आदि नामों के प्रति अधिक आकर्षण होता है। पुराने नामों की मधुरता अथवा प्रसाद गुण की बजाय नमकीन से अधिक मोह है।

'प्रसादे सर्व दु:खानां हानिरस्योपजायते' यह सिद्धान्त-वचन सारहीन होता जा रहा है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, कविता और उपमाएँ नमकीन होने लगी हैं। नमकीन बोली, नमकीन चाल, नमकीन गला, नमकीन नाच, नमकीन रोशनी, नमकीन लिखावट आदि अनेक क्षेत्रों में प्रयोग होने लगा है। वस्तु प्रधानता में भी नमकीन व्यापक होता जा रहा है—नमकीन साईकिल, नमकीन बैग, नमकीन अटैची, नमकीन सूट, नमकीन ओठ, नमकीन कान, आँख, भौंह, शक्ल, नमकीन साड़ी, रूमाल, नमकीन चित्र और जाने क्या-क्या नमकीन होने लगे हैं। नमकीन विशेषण से युक्त पदार्थों और भावों का कोष तैयार किया जा सकता है। नमकीन मकान और सिनेमाघर होने लगे हैं। आज कॉलिजों में छात्रों के प्रश्न-पत्र नमकीन होते हैं, हल नमकीन होते हैं। जवाब में मजा नमकीन आता है। वाद-विवाद में नमकीन तर्क प्रस्तुत होते हैं। चाहे वह वाद-विवाद हो उसमें वक्तृता मूसलाधार झाड़ी गयी हो। प्रोफ़ेसर नमकीन पढ़ाते हैं, व्यापारियों के सौदे नमकीन होते हैं, झड़पें नमकीन होती हैं। पिकनिक और भ्रमण नमकीन होते हैं। आदि ।

विषय व्यापक होता जा रहा है। डर है इसका नमकीनपन कम या नष्ट न हो जाय। हाँ, हमें आज भी याद है कि जब हम छोटे थे, हमारी माता गुलगुले बनाकर खिलाया करती थी। कभी-कभी हम गुलगुलों के लिए ठुनक जाया करते थे। और आज हम कभी-कभी देवी जी से पकोड़ों की फरमाइश करते हैं—अच्छे मसालेदार, थोड़ी अजवायन डालकर। कहना हम यह चाहते हैं कि वास्तव में युगान्तर आ गया है, मिठास की जगह नमकीन लेना

जा रहा है। हमारे बच्चे हैं कि मिठाई पसन्द नहीं करते। श्राद्धों में खीर और दीवाली पर जलेबी नहीं खाते। बाजार चलते हैं, तो समोसे, सेव और गाँठियों के लिए हठ करते है। मीठे के नाम पर दूध पीने का समय आता है, तो चाय ज्यादा पसन्द करते हैं—विशुद्ध मिठास के अभाव के कारण। बिस्कुट खायेंगे, तो नमकीन। जे बी मघाराम और डालमिया फैक्टरियों ने भी इस मनोविज्ञान को समझ लिया है। बिना दाँत वाला बच्चा भी सेव, गाँठियों या बिस्कुट के टुकड़े मुरमुराने में तल्लीन हो जाता है। गुड़ की डली या मिठाई के टुकड़े थूक देता है, मुँह बिगाड़ता है और हठधर्मी करने पर पूरी ताकत से रोदनास्त्र छोड़ देता है। अपने केवल आठ बच्चों पर प्रयोग करके यह परिणाम हमने प्राप्त किया है और इसकी सच्चाई के प्रति शंका की बिलकुल गुंजाइश नहीं।

पिछले दिनों जयपुर, देहली, आगरा, ग्वालियर आदि के भ्रमण का अवसर आया था। इस यात्रा का प्रसंग छेड़ने का आशय यह है कि हमारा अनुभव, ज्ञान और दर्शन सीमित न समझ लिया जाय। तो हमने देखा, भिन्न-भिन्न स्थानों की भोज्य-नाश्तीय रुचियों की अपनी विशेषता है और उसके अनुसार उन स्थानों के पदार्थों की प्रसिद्धि है—जयपुर की सेव, बीकानेर की सेव, देहली के समोसे और आगरे की दालमोठ आदि। एक बात देखने में आई—जो क्षेत्र या नगर राजा-महाराजाओं या नवाबों के सम्पर्क में रहे वहाँ आज भी मीठे के प्रति मोह बना हुआ है। इस सम्बन्ध में तर्क हमारा यह है कि राजाओं, नवाबों या बादशाहों को श्रम द्वारा पोषण नहीं करना पड़ता था। जीवन का मात्र लक्ष्य आनन्दोपभोग और रागरंग अर्थात् सरसता और माधुर्यपूर्ण था। कहा गया है, 'यथा राजा तथा प्रजा।' चाहे गरीब भी रहा हो, एक राजा या नवाब या बादशाह के प्रभाव-क्षेत्र में रहने वाला कुटुम्ब आनन्देच्छु और माधुर्य-प्रेमी बने बिना न रह सका। आनन्द, सरसता, मादकता और माधुर्य के निकट मिठास अर्थात् मिठाई को लेना दुस्साध्य नहीं, अस्तु।

उदयपुर के निवासी मिठाई खाने के शौकीन पाये गये। यह एक खोज-पूर्ण विषय है कि लोहे के चने चबाने वाले, और घास की रोटियों से शरीर की रक्षा कर देश पर बलि चढ़ाने की पुन-भावना रखने वाले, राणाओं की प्रजा मिठाई के शौक तक का मार्ग कैसे तय कर गई। बादशाहों के सम्पर्क में रहने वाले, आगरा के पेठे दाल-मोठ से अधिक नहीं, तो कम प्रसिद्ध भी नहीं। फिर दाल-मोठ में भी नमकीन के गुणों का अभाव ही पाया जाता है। हाँ नवाबों के सम्पर्क में रहा लखनऊ अपनी विशेषता भिन्न रखता है। वहाँ

नमकीन अपने विशिष्ट रूप में पाया जाता है। वहाँ मिठास के स्थान पर लावण्य-नमकीन अपनी विषयगत और वस्तुगत दोनों की प्रधानता के माने में युगप्रवर्तक रहा है, जिसका संक्रमण भारत भर में हुआ और जिसके परिणाम-स्वरूप मनोवैज्ञानिकों के लिए गम्भीर चिन्तन का विषय बना हुआ है। देहली के बारे में भी कुछ ऐसा ही है। परन्तु देहली की विशेषता को समझा जा सकता है। इसने कई उलट-फेर देखे। समय-विशेष का प्रभाव उस पर स्थायी नहीं हो सका। आज भी यह महानगरी विश्व-सभ्यता का—मीठे, कड़वे, चरपरे, कसैले और लवणपूर्ण—सभी स्वादों का—मिश्रण बनी हुई है।

युग राजनीति का है, मंच का है। मंच पर प्रभुत्व पाना एक कला है। इस प्रसंग में एक युग पुराना ठगराज नटवरलाल याद आया। अखबारी सूचनाओं के अनुसार लाखों की ठगी नटवरलाल के लिए साधारण बात थी। सम्भाषण-कला और अभिनय-कला का इतना उत्तम प्रभाव अन्यत्र देखने को नहीं मिल सकता। हैरानी की बात है कि इन कलाओं के प्रभाव में आकर लोग ठगे जाते हैं। और ठगे जाने के बाद ठगनेवाले के आशय का जब पता लगता है, तो सिर धुन लेते हैं। ठगने वाले की कला और ठगे जाने वाले के स्वार्थ-स्वार्थपूर्ति की भावना के समन्वय में भावी रंगीन चित्र का मेल रहता है। ठगा जाने वाला व्यक्ति, ठगनेवाले की कला से, मोहाविष्ट हो जाता है और फलतः लुट जाता है। यह ठग की उत्कृष्ट कलाविदता का प्रमाण है, यही बात कुछ मंच के भी सम्बन्ध में है। चुनाव के दिनों के पूर्व जिस व्यक्ति या दल से लोग घृणा करते हैं, महान् दुरालोचना करते हैं, चुनाव के समय उसी को मत देकर, पेटी में डाल आते हैं। यह उस कला का प्रभाव है, जिसके द्वारा दल या नेता मंच द्वारा मतदाताओं को मोहाविष्ट कर देता है। और जादू के प्रभाव में फँसे हुए की भाँति, सधे कदम से परदे के पीछे जाकर, लोकमत अंकित कर देते हैं। इस विवेचन का मात्र उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि नेता-गिरी मिठास से लिपटी नमकीन कला है। वाणी-लावण्य और नाट्य-कला-लावण्य उस मनोवैज्ञानिक पहलू पर आधारित होता है, जो मतदाता की नमकीन भावनाओं को पहचान कर, उसकी पूर्ति का सामान जुटा देता है। यही आज की नमकीन राजनीति का रहस्य है। इस नमकीन के प्रभाव का परिणाम भी वही होता है, जो अधिक प्लेटें चढ़ा लेने पर शौकीन को भुगतना पड़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति को भी इस नमकीन-प्रभाव से मुक्त नहीं कहा जा सकता। नमकीन आकर्षण के परिणामस्वरूप सैनिक और आर्थिक गठबन्धन होते हैं। वाणिज्य-क्षेत्र-विस्तार, प्रभुत्व-क्षेत्र-विस्तार और प्रेमत्व-

क्षेत्र-विस्तार, ये तीन अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के कारण हैं। व्यक्ति का नमकीन मोह जब विकसित होता है, तो समाज, राज्यों और राष्ट्रों का मोह बन जाता है, और एक दूसरे में तनाव, शीत-युद्ध और शस्त्रास्त्र युद्ध का रूप ले लेता है। इससे बचाव के प्रयत्न के रूप में गठबन्धन होते हैं, परन्तु नमकीन सुझावों और समझौतों की छाया में भीतर की विकरालता और कूटनीति छिपाने का प्रयत्न मात्र ही होता है। ऐसी अवस्था में मिठास, शान्ति, प्रेम और सद्भावना पर आधारित संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी विशाल और महत्त्वपूर्ण संस्थाओं में पुरानेपन की गंध आने लगती है अथवा उनमें शनैः शनैः नमकीन का प्रभाव फैलने लगता है। ऐसे समय में पंचशील और गांधीवाद के सिद्धान्त, जो आत्मा के लावण्य (सौन्दर्य) से उत्पन्न प्रयत्न है, कारगर नहीं हो पाते। इस युग का मूलभूत मनोवैज्ञानिक आधार ही नमकीन है। नमकीन जीवन के लिए नमकीन समाज, नमकीन समाज-रचना के लिए नमकीन राज्य-रचना और इसके लिए नमकीन आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था तथा उसके चिर-पोषण (चाहे वह अस्थाई भित्ति पर खड़ी हो) के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नमकीन वातावरण आवश्यक है। हमें भविष्य को नहीं देखना है। भविष्य का नक्शा मिठास पर आधारित है—Utopian sentiment, हमें तो नमकीन वर्तमान में जीना है—eat drink and be merry या, 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्।' भविष्य की चिन्ता अज्ञात और अंधेरे कमरे में बिजली के दीपक का स्विच ढूँढने जैसी है।

इस राजनैतिक नमकीन वातावरण से प्रभावित विज्ञान ने, आकाश में लाखों करोड़ों व्यय करके राकेट और स्पूतनिक छोड़े। पदार्थों में रेडियो-शक्तियता उत्पन्न की, जो कभी-कभी मनुष्यों (महा-मानवों) के मस्तिष्क तक में काम करती नजर आती है। चन्द्रमा और मंगल पर धावा करने का नमकीन मोह भी, इसी राज-विज्ञान का प्रगतिशील परिणाम है।

संसार की प्रत्येक भाषा में युगों से महापुरुषों की वाणियाँ, वाणी के सम्भाषण के मिठास पर जोर देती हैं। एक मीठा शब्द दुःखी व्यक्ति को शान्ति देता है, इस आशय की अनेक बातें ग्रन्थों में, उपदेशों में, आदर्शों में, लिखी मिलती हैं और कही जाती हैं। परन्तु हमारा अनुभव इससे भिन्न है। इस चर्चा के साथ 'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्' को भी जोड़ लेना चाहिए। परन्तु इसकी व्याख्या इस ढंग से करनी होगी—'*सत्य बोलो, मीठा बोलो,* किन्तु बोलने की शैली नमकीन होनी चाहिए। दुःखी को राहत पहुँचाने में, कहीं ऐसा न हो कि आपके मन में, सामने वाले का दुःख असर कर जाय।

ऐसा होने पर आपको भी राहत पहुँचाने वाले की आवश्यकता हो आएगी। संसार में जीने के लिए निर्लिप्तता अपेक्षित है। संसार में दु:ख-दर्द से ऊपर उठे हुए रह कर कार्य करो, प्रभावित मत हो जाओ। और इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि संसार-भर के दु:खों को आप अनुभव कर रहे हैं, सम्वेदित हो रहे हैं, ऐसा प्रदर्शित हो परन्तु वास्तविकता यह न हो और इसके लिए आवश्यकता है कि यह व्यवहार आपकी शैलीमात्र हो। कला। इसका उत्तम तरीका है, वाणी की नमकीन शैली। अतः 'सत्यं ब्रूयात् नमकीन ब्रूयात्'—नमकीन लच्छेदार भाषा।

भावनाओं में बहकर विषय की काफ़ी शल्य-क्रिया हो गई। विचार उन हलवाइयों के धन्धे का होने लगा है। उनका धन्धा मन्दा तो पड़ ही गया है—चौपट होने जा रहा है। उन्हें नमकीन की दूकानें खोलनी होंगी। इधर शक्कर का उत्पादन कम होने लगा है, यह नमकीन के भविष्य के लिए शुभ है। अब इन गन्ने के खेतों में मिर्चियाँ बोना चाहिए। और कारखाने—शक्कर के कारखाने? इनमें यान्त्रिक परिवर्तन करके, नमकीन बनाने के उपयुक्त नहीं बनाया जा सकता? यान्त्रिक ज्ञान तो नहीं है, परन्तु कल्पना अवश्य होती है कि यह असम्भव नहीं। तीसरा पदार्थ दूध है। जो कुछ बचा, काफ़ी कम होने लगा है। चाय में काम आने से बचे दूध को नमक के संयोग से फाड़कर, नमकीन पदार्थ बनाने की खोज असम्भव नहीं लगती। वैसे गाय-भैंस की नस्ल के भी उसी प्रकार नष्ट होने की सम्भावनाएँ भी तो हैं, जैसे प्रागैतिहासिक काल के सरिसृप जाति के जीव जगतीतल से नष्ट हो गये। या विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार, बन्दर जैसे मनुष्य के रूप में विकसित हो गया, ये जानवर भी अपना कोई रूप विकसित करलें।

हमारी नमकीन की प्लेट और एक मसालेदार चटनी से तर कचौरी समाप्त हो गई और होटल वाले ने 'बाबूजी, चाय लाऊँ' कहा, तो तन्द्रा भंग और विचारों के तारों का सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया।

नमकीन प्रेमियो! अब यह संसार, इसकी सारी जिम्मेदारी तुम्हारे हाथों सुरक्षित है। चाय की अन्तिम घूँट भीतर पहुँची, तो हमने अन्तरात्मा में ऐसी कुछ आवाज सुनी।

●

ये ! अपनी जान के दुश्मन

गोपालकृष्ण जिन्दल

'क' एक कॉलेज में प्राध्यापक हैं। वेतन लगभग ४३०) रु० माहवार मिलता है। जीवन के प्रति उनकी मान्यताए निराली हैं। अविवाहित हैं, विवाह के बंधन में बंधना इसलिए स्वीकार नहीं है कि नारी को नरक का पासपोर्ट समझते हैं। स्नान कभी-कभार करते है, क्योंकि स्नान से केवल तन की शुद्धि होती है। वे मन की शुद्धि के कायल हैं। अन्न नहीं खाते हैं, क्योंकि उनके दृष्टिकोण में यह मनुष्य के लिए अप्राकृतिक है। अतः मूंगफली एवं आलू पर गुजारा करते हैं। हाँ, शरीर-इञ्जिन को चलाने के लिए चाय की चुस्कियाँ और सिगरेट का धुआँ आवश्यक समझते हैं। चौबीस घण्टे में ५०-६० रेड एण्ड ह्वाइट सिगरेट फूँक जाते हैं। इसी तरह दिन भर में लगभग २०-२५ कप चाय-कॉफी के गटक जाते है।

शरीर से एकदम ऐंचक ताने है। फूँक मारो, तो हवा में कलामुण्डी खा जायें, किन्तु किस माई के लाल के सीने पर इतने बाल हैं कि उन्हें कुछ समझाने की हिमाकत कर बैठे। उपरोक्त वस्तुओं का कुपरिणाम सामने आना ही था, फलत. एक-दो बार मानसिक चिकित्सालय की सैर कर आये हैं, किन्तु रस्सी जल जाने पर भी ऐंठ ज्यों की त्यों बरकरार है। जीवन और वस्तुओं के प्रति प्राणघातक मान्यताओं की यह भूलभुलैया, उन्हें कालान्तर में किस मंजिल पर पहुँचा देगी, आप सहज ही अनुमान कर सकते हैं।

'ख' बैंक कर्मचारी हैं। सुबह शौच से निवृत्त नहीं होते हैं, कारण स्वयं उन्हीं के मुखारविन्द से सुनिये। 'आठ बजे बिस्तर छोड़ता हूँ, तत्पश्चात् एक कप चाय और एक पान मुँह में दबाकर, मित्रों की कुशल-मंगल पूछने जाता हूँ। लौटकर पुनः एक कप चाय और एक पान। बस इसी में दस बज जाते हैं और ऑफिस का समय हो जाता है।' अब आप ही बताइये, इस

भाग-दौड़ में शौच जाने का समय कौन-सा मिला और फिर यह कार्य १०-१५ मिनट का हो तो भी इस रेल-पेल में कर लिया जाय। किन्तु अपने राम को तो शौच में पूरा सवा घंटा लगता है। उपद्रवी भीड़ को तितर-बितर करने के लिए, जिस तरह पुलिस को अश्रुगैस का सहारा लेना पड़ता है, उसी तरह पेट से मल को पलायन करवाने हेतु हमें भी ६ सिगरेटों का धुआँ छोड़ना पड़ता है। अतः सायंकालीन भोजन के पश्चात् मित्रों से गपशप एवं सैरसपाटे के पश्चात् तब कहीं रात्रि को १० बजे उन्हें शौच जाने का अवकाश मिल पाता है। जरा सोचिये, पान, सिगरेट, चाय के दलदल एवं गपशप, सैरसपाटे के अन्धड़-तूफान से बचता हुआ साहिल, क्या कभी किश्ती को किनारे पर लगा भी पायेगा ?

'ग' अवकाश-प्राप्त कर्मचारी हैं। उस सुभाषित में आप आस्था रखते हैं, जो यह कहता है कि मनुष्य को सदैव अपने को व्यस्त रखना चाहिए, क्योंकि खाली घर में शैतान का वास हो जाता है। उस चीनी कहावत की तो आप बलैयाँ लेते हैं, जिसमें मनुष्य के लिए और कुछ काम न होने पर, शरीर का कपड़ा फाड़ने और सीने का परामर्श दे रखा है। आपने इन कहावतों को न केवल सूंघा ही है, अपितु खाया और हज़म भी किया है, और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि आपके बायें हाथ में बीड़ी और सीधे हाथ में चाय का प्याला दिन में कभी भी देखा जा सकता है। समय को आप एक बेशकीमती चीज़ समझते हैं, और आजकल के नवयुवकों को इसका अपव्यय करते देख आपका जिगर रक्त के आँसू बहाने लगता है, और तब आप तैश में आकर अपना उदाहरण रखते हुए कहने लगते हैं : 'जानते हो मेरे लिए समय का क्या मूल्य है ? और इसकी बचत की खातिर तो मैं सप्ताह में सिर्फ एक दिन शौच जाता हूँ।'

अपनी नियमित दिनचर्या के कारण भीष्म-पितामह ने, न केवल ५०० वर्ष की आयु में महाभारत का युद्ध छेड़ा था, अपितु क्षत-विक्षत होते हुए भी सूर्यनारायण के उत्तरायण होने तक जीवन धारण किये रहे। यह संयमित जीवन ही था, जिसके कारण उन्होंने द्वारकाधीश को भी अपने वचन से हटने को बाध्य कर दिया था। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि बगैर उनकी इच्छा के स्वयं मृत्यु के देवता भी उनके पास नहीं फटक सकते थे ?

हमारे शास्त्रकारों ने जीवन के चार हिस्से किये थे और सीना ठोककर कहते थे कि सौ वर्ष पर्यन्त जियेंगे, किन्तु इस प्रकार के चैलेंज का आधार उनका

आहार के सम्बन्ध में सतर्कता बरतना एवं प्राकृतिक नियमों में सामंजस्य स्थापित करना था। वे जीवन के ठोस धरातल पर खड़े होकर कुछ कहते थे। हवा में उड़ना उन्हें नहीं आता था। जिस चीज को वे दूसरों को देना चाहते थे, उसे पहले स्वयं के जीवन की प्रयोगशाला में उतारते थे और जब वह खरी उतरती तब ही उसे दूसरों को देते थे। जीवन को इस प्रकार ठोंककर, तब वे निश्चिन्त होकर, अपनी सम्पूर्ण तन-मन की शक्तियों के साथ रत होते थे। किन्तु आज किसी को इसका विश्वास नहीं। Death keeps no calendar आदि वाक्य-रचनाओं ने मानव-मन के तारों को हिलाकर, उसे एकबारगी ही दयनीय और विपन्न बना डाला है। आज कहाँ गया वह ऋषि-मुनियों का जयघोष ? कौन चाट गया उसे ?

क्यों आज बेटे की अर्थी में बाप को कन्धा लगाने की आवश्यकता पड़ती है ? क्यों पुष्प विकसित होने के पूर्व ही कुम्हला जाते हैं ? क्या कारण है कि जीवन की भरी दुपहरी में, मौत का घटाटोप अंधियारा छा जाता है ?

स्वास्थ्य के नियम इतने स्पष्ट है, जितनी हथेली की रेखाएँ या दिन का प्रकाश। वे इतने सस्ते एवं सर्व-सुलभ हैं कि उन्हें हर कोई लम्बी दौड़-धूप, भारी सिफारिश और ऊँचे मूल्य चुकाये बिना ही प्रसन्नतापूर्वक प्राप्त कर सकता है, किन्तु पावस की बौछारों का स्नेहिल सस्पर्श पाकर भी, यदि कोई वृक्ष जैसा का तैसा रहना चाहे, तो कोई क्या करे ? रवि-रश्मियों से जगती का कण-कण आनन्दित, उल्लसित हो उठता है, किन्तु उन्हीं के विरुद्ध यदि उलूक-शावक अपनी माँ से रवि द्वारा उसकी आँख में बारूद झोंके जाने की शिकायत करे, तो यह उलूक-शावक की नादानी के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

अपनी मूर्खतापूर्ण भ्रान्त-धारणाओं की ओर ध्यान न देकर, ईश्वर को अपराधी मानकर, उसे कोसने से काम नहीं चलेगा। अपनी असावधानी से पेड़ पर से फिसल जाने के पश्चात्, उस फिसलने का कारण पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति पर थोपा जाय, तो यह तर्क कहाँ तक युक्ति-संगत होगा ? यह भी कहने से काम न चलेगा कि आज की परिस्थितियाँ वैसी नहीं, जैसी हमारे पूर्वजों को प्राप्त थी। दूध-घी का अभाव दीर्घजीवी होने के मार्ग में उतना बाधक नहीं, *जितना लोगों की गलत दिनचर्या और दोषपूर्ण आहार-विहार* बाधक है।

लम्बी आयुष्य प्राप्त करने की लालसा सब करते हैं। कोई भी यहाँ से शीघ्र जाने की बात पसन्द नहीं करता, किन्तु हाथ में कंघी रखने से ही

तो, सिर का गंजापन नहीं ढका जा सकता । अतः आवश्यकता है, सादा भोजन, संयमित आहार-विहार और अधिकाधिक प्राकृतिक जीवन अपनाने की । हमें यह सोचने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए कि काँटा रोपने पर भी मीठे, रसीले, स्वादिष्ट आम खाने को मिल जायेंगे । अपनी जान के हम स्वयं ही दोस्त या दुश्मन होते हैं ।

●

वायें चलो

●

विपिन जारोली

जनमार्ग के प्रत्येक चौराहे पर, मोड पर और कहीं थोडी-सी दूरी पर चलते हुए आपने अवश्य पढा होगा, लाल तख्ती पर लिखा हुआ यह संकेतात्मक वाक्य—'बायें चलो' और इसी से मिलता-जुलता दूसरा शब्द 'वाहनों के लिए', इसी प्रकार की तख्ती पर लिखा, पढ़ा होगा 'Left hand drive'।

दिखने को तो शब्द बडा ही सरल और संक्षिप्त है, परन्तु अपने आप में एक भारी जिम्मेदारी को समेटे हुए भी है। आप आ रहे हैं, किसी आवश्यक कार्य में, एकदम। ध्यान नहीं है आपको जनमार्ग पर चलने का। परन्तु यह 'बायें चलो' वाक्य तुरन्त ही आपका मार्ग-दर्शक बन जायेगा। आप कुछ ही क्षण बाद तांगे की भयंकर दुर्घटना में ग्रस्त होने वाले थे, बच जायेंगे। आप अपनी बेहवासी से किसी ट्रक की टक्कर खाने वाले थे, सुरक्षित हो जायेंगे। परन्तु कितने ऐसे नागरिक है, जो इस तख्ती के इस छोटे से मार्ग-दर्शन करने वाले वाक्य के प्रति जिम्मेदार हैं? तांगेवाला चिल्ला रहा है 'बाबूजी, बायें चलिये, बायें!' ट्रक, बस और टैक्सीवाला हॉर्न पर हॉर्न दे रहा है। साइकिल-वाला घंटी बजा रहा है। घोडेवाला अपने आपको बचाता हुआ चिल्ला रहा है। परन्तु आप हैं कि अपने ही विचारों में मशगूल, कौन सुने? मालूम है, आपके खातिर सारा मार्ग अवरुद्ध हो गया है। लो, एक दुर्घटना हो ही गई। दस वर्ष का एक बालक स्कूल जाते हुए ट्रक से टकरा कर कुचला गया और उसने वहीं पर दम तोड दिया। यह सारा इसलिए हुआ कि आपने 'बायें चलो' का विचार नहीं किया और दायें चलते रहे। तख्ती पढी अवश्य, पर उस पर अमल नहीं किया।

आये दिन समाचार-पत्रों में अक्सर ये समाचार पढने में आते हैं कि अमुक स्थान पर ट्रक से ट्रक और बस से बस टकरा गई। पचास आदमी घायल, दस के प्राणान्त। बैलगाडी से साइकिल की टक्कर, साइकिल टूटी और

सवार घायल, हालत चिन्ताजनक। ताँगे से स्कूटर-भिड़न्त, घोड़ा मरा और स्कूटर के पुर्जे बेतरतीब, आदमी दुर्घटनाग्रस्त। ऐसे समाचार एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, सैकड़ों और हज़ारों की संख्या में आये दिन सुनते ही रहते हैं।

आप टैक्सी-ड्राईवर हैं न? क्यों भागे जा रहे हैं दायीं ओर?

जवाब है—सड़क खाली पड़ी है, किसी भी ओर चलें।

आप ट्रक-ड्राइवर हैं न?

जी हाँ!

तो कहाँ भागे जा रहे हैं बेतहाशा, मार्ग के बीचो-बीच।

जवाब स्पष्ट है—रात्रि है श्रीमान्! अभी कौन अभागा मिलेगा सड़क पर? आराम से पसर कर क्यों न चला जाय?

आप साइकिल सवार हैं न?

जी हाँ!

तो आप दायें क्यों चल रहे हैं?

वाह! यह भी कोई बात है। साइकिल को कितनी जगह चाहिए? कोई भी आयेगा, पास होकर निकल जायेगा।

आप ताँगेवाले हैं न?

ये हैं कुछ उदाहरण जो 'बायें चलो' की मुखालफत करते जा रहे हैं। इन्हे पता ही नही है कि इस वाक्य की अवहेलना कितना गजब ढा सकती है, कितनी जन-धन की हानि कर सकती है, कितनी जानें जोखिम मे पड सकती हैं, कितनी कलियाँ खिलने के पूर्व ही कुम्हला सकती है ?

देश मे वातावरण ही कुछ ऐसा चल रहा है कि सभी की आँखे आजादी की चकाचौंध मे चौंधिया गई हैं, कि जैसे कुछ दिखाई ही नही पड रहा है। यह 'बायें चलो' का तो एक उदाहरण मात्र है। सकेतो की परवाह न कर हम सभी मनमाने तौर पर चलते जा रहे हैं।

आज का नागरिक, विद्यार्थी, टैक्सी, बस और ट्रक ड्राइवर, साइकिल सवार, बैलगाडीवान आदि वाहन-सचालक 'बायें चलो' वाक्य के प्रति वफादार हो जायें, तो आये दिन होने वाली अनेको दुर्घटनाओ से जन-धन की जो हानि हो रही है, वह न हो, और मार्ग पर चलने वालो का आवागमन भी खतरे मे सुरक्षित हो जाय।

आइये, आज हम सभी मिलकर अपने राष्ट्रीय-चरित्र के आईने मे देखें कि समग्र जन-जीवन के प्रति हम कितने जागरूक और जिम्मेदार हैं।

प्रेमयोगिनी

◉

श्रीमती शकुन्तला 'रेणु'

प्रेम की यह राह, री सखि ! प्रेम की यह राह ।
मिट न पाई, अमिट कैसी मिलन की यह चाह ।।

राजस्थान की पावन भूमि के अंचल में कृष्ण की परम प्रेमानुरागिनी मीरा मूर्तिमती माधुर्य-भक्ति के रूप में अवतरित हुई । मीरा, राजकुमारी मीरा कृष्ण की पगली पुजारिन बन रही ।

बचपन में हम मीरा को माँ का पल्ला पकड़े, सरल भाव से अपनी आराध्य-विषयक जिज्ञासा को शमन करते देखते हैं : 'माँ मेरा वर....?' भक्तिमती माँ को तब क्या पता था कि वह उसको जीवन का दीक्षामंत्र देने वाली उसकी जीवन विधात्री देवी बन रही है, उस समय । अतुल प्यार-भरी वत्सलता से माँ ने बेटी का मुख चूम कर कहा : 'मीरा ! तेरे वर हैं कान्ह ।'

मीरा ने जाना कि, 'हाँ, वही मेरे आराध्य हैं ।' यह उसने उसी माँ से जाना था, जो अबोध बचपन में बालक की एकमात्र विश्वासनिधि होती है । समस्त आस्थाभरा अन्तर लिये मीरा कान्ह की ही गोद में जा पड़ी, जन्म-जन्मान्तर के लिए । ऐसी ही थी वह राजसुखों में पलने वाली सरला राजकुमारी मीरा ।

बचपन—जिसे आयु का निर्माणकाल मानते हैं, जिसके मधुर संस्मरण सारे मानव-जीवन को आन्दोलित करते रहते हैं, वह बचपन अब मीरा से विदा ले गया । नववय के आगमन के साथ ही समस्त सांसारिक सम्पदाएँ भी उस पर निछावर होने को समृद्ध हो चलीं । मीरा अनिन्द्य रूपवती, परम सरला, समस्त सद्गुणों की आगार है । लोक-दृष्टि उसके चरणों में श्रद्धा से प्रणत हो रहती है । उस विरागिनी मीरा को लोक-सुखों का मोह कहाँ था ? फिर भी, क्या राजकुल की यह रीति थी कि कोई कन्या कुमारी रहे ? संसार क्या कहे भला ? मीरा का पाणिग्रहण अनिवार्य है ? अरे रे....।

राणा रतनसिंह की सुकुमारी कन्या राणा सांगा के सुकुमार युवराज भोजराज की प्रिय रानी बनी। किन्तु उसे तो अपने गिरिधर की प्रीति निभानी थी न ? क्रूर दैव को कब इष्ट था कि वह अपने चिरन्तन *प्रिय* को भूल बैठे ? राजकुमार भोजराज परलोकवासी हो गये और सांसारिक दृष्टि में मीरा विधवा हो गई। जगत् के कहे जाने वाले उसके समस्त बन्धन विच्छिन्न हो गये। वह अब उन्मुक्त थी। ऐसी आपदा में भी उसने हृदय चीर कर यही करुण-क्रन्दन किया : 'मेरे कान्ह !'

राजस्थान की इस कृष्णानुरागिनी का अन्तर्मन उसकी वाणी में मुक्त हो गया है। रो-रो कर उस पगली ने गाया, केवल उस आराध्य के लिए जो कि उसके जीवनप्राण में एकरूप होकर घुलमिल गया था।

मीरा की भक्ति, अनुरक्ति, सांसारिक विरक्ति एवं ध्येय के प्रति उसकी अगाध एकनिष्ठा अवर्णनीय है, अनिर्वचनीय है। प्यार की राह में बैठी मीरा सोचती है : 'वह प्रिय तो अगम है, गहन है, उस विराट सत्ता से भी परे है। गगन-मण्डल में जिसका आवास हो, वहाँ धरती का प्राणी कैसे पहुँचे ? धरा का आवास मीरा को शल्य-सम खल उठा

सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोणा होय ?
गगन-मण्डल में सेज पिया की किस विध मिलणा होय ?

किन्तु प्रयत्न में बाधा कैसी ? सतत् लगन ही तो बुद्धि की संचालिका शक्ति है न ? मीरा अपनी राह आप खोज लेती है। वह सुरत समाधि में अपने प्रिय से भेंट लेती है। कसूम्बी साड़ी पहन कर अपने साँवरे के दर्शन पा लेती है। अर्द्धरात्रि को प्रेम नदी के तीर पर अपने प्रभु की प्रतीक्षा में निरत रहती है। और इससे भी परे

अगर चन्दण की चिता बणाऊँ
अपने हाथ जला जा।
जल-बल भई भसम की ढेरी
अपने अंग लगा जा।

अस्तित्व का यह चरम विसर्जन भी क्या उसके प्राण-प्रिय को नहीं पिघलायेगा ? नहीं, वह इतना निष्ठुर तो नहीं है। पूर्ण समर्पण का भाव भगवान को पिघलायेगा अवश्य। मीरा की यह दृढ़ आस्था है कि प्रेम-देवता उसकी प्रेम-पूजा को स्वीकार करने अवश्य आयेगा ही।

हँसकर न आयेगा, तो रोकर उसे आना पड़ेगा। उसकी भस्म की ढेरी पर अश्रुओं की अञ्जलि चढ़ाने आयेगा। और उसकी राख को वह अपने शरीर से लिपटायेगा ही, तब उसका भस्मीभूत हो जाना भी कितना सार्थक हो उठेगा? अहो कितना ??

'भगति' को देखकर हँसने तथा 'जगत्' को देखकर रोने वाली मीरा ने इसी पगले प्यार के पीछे क्या-क्या नहीं सहा? राणा की कुलमर्यादा को तोड़ने वाली विद्रोहिणी मीरा को हलाहल तक अमृत करके पीना पड़ा। विषधर तक को अपने शालिग्राम समझ कर गले में लिपटाना पड़ा। और अन्त में अपनी प्यारी जन्म-भूमि मेवाड़ तक को अन्तिम नमस्कार करना पड़ा। किन्तु उसका प्यार न टूटा। पूर्वजन्म की प्रीति जो निभानी थी। अपने गोविन्द को उसने मोल जो ले लिया था, लोक-लज्जा का लोप करके।

देव-मन्दिर में ताल-मृदंग बजे। गिरिधर की आरती उतरी कि रुनझुन मीरा के घुंघरू बज उठे। मीरा थिरक उठी, गोपाल को रिझाने के लिए। हृदय का रोम-रोम समर्पण लिये पलकों में बिछ गया और आराध्य के श्रीचरणों में समस्त अनुराग निछावर हो गया। आरती की लौ अनुरागिणी-सी जल उठी। और पूजा में स्वयं मीरा जीवन-देवता के समक्ष अर्पित हो गई।

'ओ कान्ह! कहाँ है तू?'

सन्त-मण्डली में कृष्ण-कीर्तन हुआ कि मीरा ने महलों की अट्टालिकाएँ छोड़ीं। वह पगली तो भागी वहाँ, जहाँ उसके प्रिय का गुणगान हो रहा है। दर्शन-प्यासी ने उस अनदेखे सुनामी की वियोग-व्यथा को उसके गुण-श्रवण से ही कुछ शान्त किया। और फिर आकुल अन्तर चीत्कार कर उठा: 'ओ कान्ह! कहाँ है तू?'

एक हूक-भरा अन्तर लिये, विरहव्यथा को हृदय में छिपाये, घायल मृगी-सी वह वन-वन भटकी, किन्तु उसकी पीर को मिटाने वाला सांवरा कहाँ? क्या इसी भाँति तड़प-तड़प कर मीरा के जीवन का अन्त होगा? और कान्ह? देखता ही रहेगा न? पसीजेगा नहीं?

गहन प्रेम-पंथ के पथिक विरले ही शूरवीर होते हैं। भक्त प्रीतम ने गाया है:

> हरि नो मारग छे शूरा नो
> कायर नुं नहीं काम जो ने।'

इस पथ में अपने सिर को स्वयं हाथों में काट कर, उस पर पाँव दे आगे बढ़ना होता है। यदि इतना साहस किसी में हो, तो वह आगे आये, अन्यथा भूल कर भी इस ओर देखने का साहस न करे। मीरा में ऐसा ही अडिग साहस था।

वही भक्त-कवि आगे कहता है :

'प्रेम पथ पावक नी ज्वाला,
चालो, पाछा भागे जो ने।'

यह एक ऐसी महाज्वाला है, जिसमें समस्त अभीप्साएँ, समस्त लोक-वासनाएँ भस्मीभूत हो जाती हैं। महाज्योति के सम्मुख किसका टिक सकने का साहस हो सकता है भला? केवल उसी का, जो अपने प्राणों की आहुति देकर, प्रियतम को प्यार कर लेता है, ज्योति को चूमता है, शलभ का उन्माद निज में समेट कर। ऐसी ही अनन्य प्रेमिका थी वह उन्मादिनी मीरा!

संसार के कटुतम दुःखों की विष-वारुणी का पान करने वाली मीरा ने, केवल कृष्ण के चरण पकज में ही विश्राम पाया। ऐसी अनन्य सहचरी से कान्ह भला कहाँ तक विमुख रहते?

और देखो :

द्वारिकाधीश स्वयं मीरा को अपने अंक में छिपा रहे हैं। अश्रुभीना वह मुख श्रीप्रभु के वक्षस्थल में जा छिपा ....जा छिपा!!

●

हँसकर न आयेगा, तो रोकर उसे आना पड़ेगा। उसकी भस्म की ढेरी पर अश्रुओं की अञ्जलि नहाने आयेगा। और उसकी राख को वह अपने शरीर से लिपटायेगा ही, तब उसका भस्मीभूत हो जाना भी कितना सार्थक हो उठेगा! अहो कितना ??

'भगति' को देखकर हँसने तथा 'जगत' को देखकर रोने वाली मीरा ने इसी पगले प्यार के पीछे क्या-क्या नहीं सहा? राणा की कुलमर्यादा को तोड़ने वाली विद्रोहिणी मीरा को हलाहल तक अमृत करके पीना पड़ा। विषधर तक को अपने शालिग्राम समझ कर गले में लिपटाना पड़ा। और अन्त में अपनी प्यारी जन्म-भूमि मेवाड़ तक को अन्तिम नमस्कार करना पड़ा। किन्तु उसका प्यार न टूटा। पूर्वजन्म की प्रीति जो निभानी थी। अपने गोविन्द को उसने मोल जो ले लिया था, लोक-लज्जा का लोप करके।

देव-मन्दिर में ताल-मृदंग बजे। गिरिधर की आरती उतरी कि रुनझुन मीरा के घुंघरू बज उठे। मीरा थिरक उठी, गोपाल को रिझाने के लिए। हृदय का रोम-रोम समर्पण लिये पलकों में बिछ गया और आराध्य के श्रीचरणों में समस्त अनुराग निछावर हो गया। आरती की लौ अनुरागिणी-सी जल उठी। और पूजा में स्वयं मीरा जीनव-देवता के समक्ष अर्पित हो गई।

'ओ कान्ह! कहाँ है तू?'

सन्त-मण्डली में कृष्ण-कीर्तन हुआ कि मीरा ने महलों की अट्टालिकाएं छोड़ीं। वह पगली तो भागी वहाँ, जहाँ उसके प्रिय का गुणगान हो रहा है। दर्शन-प्यासी ने उस अनदेखे सुनामी की वियोग-व्यथा को उसके गुण-श्रवण से ही कुछ शान्त किया। और फिर आकुल अन्तर चीत्कार कर उठा: 'ओ कान्ह! कहाँ है तू?'

एक हूक-भरा अन्तर लिये, विरहव्यथा को हृदय में छिपाये, घायल मृगी-सी वह बन-बन भटकी, किन्तु उसकी पीर को मिटाने वाला साँवरा कहाँ? क्या इसी भाँति तड़प-तड़प कर मीरा के जीवन का अन्त होगा? और कान्ह? देखता ही रहेगा न? पसीजेगा नहीं?

स... सच प्रेम-पंथ के पथिक विरले ही शूरवीर होते हैं
हो रह
भी, क्या
कहे भला

'या तू अपना,
अपनी बोली की मिठास का
विज्ञापन करती फिरती है
अभी यहाँ से, अभी वहाँ से
जहाँ-तहाँ से . . . . ।'

कहाँ वह गौतम बुद्ध-सा विश्वपीडा मे द्रवित करुणाकलित हृदय और कहाँ यह आज के नेताओं की तरह चीख-चीख कर आत्मश्लाघा का दुर्बल प्रयास !

सचमुच बहुत कुछ बदल गया है। आज जब कोयल की पुकार पर वसन्त न आये, पपीहे की चिरन्तन प्यास स्वाति की आशा मे अतृप्त ही रह जाये, बादल घिरें, किन्तु बिन बरसे ही लौट जायें, तो कवि का उद्विग्न होना स्वाभाविक ही है। किन्तु यह कोकिल की आवाज का दोष नहीं कवि ! बदलती हुई प्राकृतिक दशाओं और समय का फेर है।

इन्द्र का वह वरदान आज के वैज्ञानिक युग में प्रभावहीन हो गया, इसे वह पगली कोयल क्या जाने ? वह तो जितना ही सूखा देखती है, उतनी ही जोर से पुकारती है, जोर से, और जोर से—जिससे सूखी धरती पर मधुऋतु आ जाये—शायद उसकी पुकार उनके कानों तक न पहुँची हो ! वह तो आज भी प्राणों मे पीडा सजोये, अपने को प्राप्त वरदान के भरोसे, नवजीवन का शख फूँकती है। सोचती है—शायद उसके गान से आज भी सरसों फूल उठेगी, फसलें लहलहायेंगी, वृक्ष फलों से लद जायेंगे और तब अकाल नहीं रहेगा।

उसे समझो कवि ! तुम न समझोगे, तो उसकी भावनाओं का सही रूप दुनिया से छिपा ही रह जायेगा और अपनी पीडा में घुल-घुल कर वह बावली मर जायेगी, एक दिन।

●

'या तू अपना,
अपनी बोली की मिठास का
विज्ञापन करती फिरती है
अभी यहाँ से, अभी वहाँ से
जहाँ-तहाँ से . ..... ।'

कहाँ वह गौतम बुद्ध-सा विश्वपीड़ा मे द्रवित करुणाकम्पित हृदय और कहाँ यह आज के नेताओं की तरह चीख-चीख कर आत्मश्लाघा का दुर्बल प्रयास !

सचमुच बहुत कुछ बदल गया है। आज जब कोयल की पुकार पर वसन्त न आये, पपीहे की चिरन्तन प्यास स्वाति की आशा मे अतृप्त ही रह जाये, बादल घिरें, किन्तु बिन बरसे ही लौट जायें, तो कवि का उद्विग्न होना स्वाभाविक ही है। किन्तु यह कोकिल की आवाज़ का दोष नही कवि ! बदलती हुई प्राकृतिक दशाओं और समय का फेर है।

इन्द्र का वह वरदान आज के वैज्ञानिक युग मे प्रभावहीन हो गया, इसे वह पगली कोयल क्या जाने ? वह तो जितना ही सूखा देखती है, उतनी ही जोर से पुकारती है, जोर से, और जोर से—जिससे सूखी धरती पर मधुऋतु आ जाये—शायद उसकी पुकार उनके कानों तक न पहुँची हो ! वह तो आज भी प्राणो मे पीड़ा सजोये, अपने को प्राप्त वरदान के भरोसे, नवजीवन का शंख फूँकती है। सोचती है—शायद उसके गान से आज भी सरसों फूल उठेंगी, फसलें लहलहायेंगी, वृक्ष फलो से लद जायेंगे और तब अकाल नहीं रहेगा।

उसे समझो कवि ! तुम न समझोगे, तो उसकी भावनाओं का सही रूप दुनिया से छिपा ही रह जायेगा और अपनी पीड़ा में घुन-घुन कर वह बावली मर जायेगी, एक दिन।

●

कोयल की आवाज़ बदली या कवि का मन ?

●

कुमारी सुमन तारे

वर्षों पहले कवि बच्चन की कविता 'कोकिल' पढ़ी थी और अभी-अभी फिर पढ़ी, उन्हीं की कविता 'कोयल'। प्रश्न उठा, कोयल की आवाज़ बदली या कवि का मन ? जो कवि कोकिल के काले रंग और मीठी आवाज़ पर कभी भाव-विभोर हो गा उठा था :

'कठिन तपस्या करके तूने
इतना सुमधुर सुर पाया,
और गवाही इस तप की है
तेरी यह काली काया ।'

वही आज उद्विग्न होकर, चिढ़ा-सा यह सोचता है कि वह अपनी मीठी आवाज़ के अभिमान में आसमान सिर पर उठा रही है।

जो कोयल अपनी तपस्या के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले वरदान में अपने लिए कुछ न माँग कर नम्रता से कहती थी :

'नहीं चाहती दिगदिगन्त में
कीर्तिगान मेरा गूँजे,
नहीं चाहती आकर दुनिया
सादर पद मेरा पूजे ।
स्वर्ग प्रसन्न हुआ यदि मुझसे
मुझको ऐसा गान मिले,
जिसको सुनकर मरे हुओं को
जीवन का वरदान मिले ।'

वही तपस्विनी आज कवि को अपनी मीठी आवाज़ का विज्ञापन-सा करती दिखाई देती है :

'या तू अपना,
अपनी बोली की मिठास का
विज्ञापन करती फिरती है
अभी यहाँ से, अभी वहाँ से
जहाँ-तहाँ से . ... ।'

कहाँ वह गौतम बुद्ध-सा विश्वपीडा मे द्रविन करुणाकनित हृदय और कहाँ यह आज के नेताओं की तरह चीख-चीख कर आत्मश्लाघा का दुर्बल प्रयास !

सचमुच बहुत कुछ बदल गया है। आज जब कोयल की पुकार पर वसन्त न आये, पपीहे की चिरन्तन प्यास स्वाति की आशा मे अतृप्त ही रह जायें, बादल घिरें, किन्तु बिन बरसे ही लौट जायें, तो कवि का उद्विग्न होना स्वाभाविक ही है। किन्तु यह कोकिल की आवाज का दोष नही कवि ! *बदलती हुई प्राकृतिक दशाओ और समय का फेर है।*

इन्द्र का वह वरदान आज के वैज्ञानिक युग मे प्रभावहीन हो गया, इसे वह पगली कोयल क्या जाने ? वह तो जितना ही सूखा देखती है, उतनी ही जोर से पुकारती है, जोर से, और जोर से—जिससे सूखी धरती पर मधुऋतु आ जाये—शायद उसकी पुकार उनके कानों तक न पहुँची हो ! वह तो आज भी प्राणों में पीडा सजोये, अपने को प्राप्त वरदान के भरोसे, नवजीवन का शंख फूँकती है। सोचती है—शायद उसके गान से आज भी सरसो फूल उठेगी, फसलें लहलहायेंगी, वृक्ष फलो से लद जायेंगे और तब अकाल नही रहेगा।

उसे समझो कवि ! तुम न समझोगे, तो उसकी भावनाओं का सही रूप दुनिया से छिपा ही रह जायेगा और अपनी पीडा मे घुल-घुल कर वह बावली मर जायेगी, एक दिन।

●

कोयल की आवाज़ बदली या

कुमारी सुमन तारे

वर्षों पहले कवि बच्चन की क
अभी फिर पढ़ी, उन्हीं की कविता
बदली या कवि का मन ? जो कवि को
पर कभी भाव-विभोर हो गा उठा था

'कठिन तपस्या
इतना सुमधुर
और गवाही
तेरी यह का

वही आज उद्विग्न होक
मीठी आवाज़ के अभिमान में आ

जो कोयल अपनी तप
अपने लिए कुछ न माँग कर

'नहीं चाह
कीर्तिगान
नहीं चा
साद

किया जा सकता है, परन्तु आज नहीं। शौचादि से निवृत्त होकर, तौलिया लेकर जब स्नान घर में पहुँचा, तो याद आया कि नहाने के साबुन का स्थान तो कल ही रिक्त हो गया था। अब नहायें भी तो कैसे ? साबुन के टुकड़ों की इधर-उधर तलाश की। कपड़े धोने के साबुन का एक टुकड़ा कोने में मिला। खैर, आज इससे ही काम निकालेंगे। सिर पर पानी उँडेला और लगा बालों को साबुन लगाने। तत्पश्चात् हाथ दाढ़ी पर गया। 'धत् तेरे की' दाढ़ी बनाना तो भूल ही गया। अपनी बुद्धि पर बड़ा गुस्सा आया। नियमित रूप से कार्य करने में बुद्धि सहयोग देती ही नहीं। इतने में थोड़ा-सा साबुन आँख में गिर गया और आँख लाल हो गई।

मुँह को पानी से धोकर शीशा सामने रख, लगा हजामत बनाने। परन्तु ब्लेड एक भी नयी नहीं मिली। पुराने वर्ष के साथ-साथ ब्लेड भी सब पुरानी हो चुकी थी। मन मसोस कर रह गया। अपने पर बड़ा गुस्सा आया, परन्तु नये वर्ष का ख्याल कर मन को शान्त किया। लाचार होकर पुरानी ब्लेड से ही हजामत करनी शुरू की। ब्लेड पुरानी होने से जगह-जगह दाढ़ी पर बाल रह गये, और कहीं एक ही जगह बार-बार जोर लगाकर रेजर का प्रयोग करने से ठोड़ी छिल गई। ठोड़ी पर जगह-जगह रक्त की छोटी-छोटी बूँदें प्रकट हो गईं। कुंकुम-चित्रित नारियल की तरह रक्त की बूदों-युक्त ठोड़ी को शीशे में देखकर बड़बड़ा उठा। एक बार ब्लेड को घृणा से देखकर सबको एक तरफ फेंक कर लगा स्नान करने।

स्नान करके कमरे में पहुँचा। बालों में कंघी की और लगा कपड़े पहनने। देखा बुशशर्ट के बटन टूटे हुए हैं। और कमीज, पैण्ट धोबी लाया ही नहीं। क्या पहन कर बाहर जायें ? बाहर जाना भी जरूरी। चाय पीने का समय हो गया। पास के कमरे से चाय की खुशबू आ रही थी। इससे चाय पीने की इच्छा और प्रबल हो गई। समस्या को सुलझाने के लिए दिमाग को भी कष्ट देना पड़ा। अन्त में खुले गले का कोट, बनियान पहन कर बाजार की तरफ चल पड़ा। पैरों में सुस्ती थी और सिर में था दर्द। शायद नियमित समय पर चाय न मिलने से ही ऐसा हो रहा था।

जहाँ प्रतिदिन चाय पिया करता था, उसी होटल पर पहुँचा। होटल वाले ने लापरवाही से मेरी तरफ देखा और फिर काम में जुट गया। जूठी गिलासें उठानेवाला छोकरा मुझसे सटकर निकला। होटलवाला यमदूत की तरह, हाथ में एक पर्चा लिये मेरे पास आ धमका। उसके उद्देश्य को मैं पहले ही समझ गया था। उसके कहने के पहले ही मैं बोल उठा 'तुम्हारे दोनों महीनों के पैसे कल दूँगा।'

मेरा वर्ष का पहला दिन

सोहनलाल प्रजापति

प्राची दिशा में उषा-सुन्दरी ने नील गगन-रूपी पात्र में धूप-दीप-नैवेद्य संजोकर, नव-वर्ष के बाल-रवि का अभिनन्दन किया। भ्रमरों व पक्षियों के सुमधुर स्वागत-गान को सुनकर, समस्त प्राणी निद्रादेवी की सुखद क्रोड़ को त्याग कर, बाल-रवि का अभिनन्दनोत्सव देखने के लिए लालायित हो उठे। नव-वर्ष के बाल-रवि के अभिनन्दन में तत्पर सज-धज-युक्त प्रकृति को देखकर समस्त प्राणी प्रफुल्लित हो उठे। प्रकृति से मानवों को भी प्रेरणा मिली। मनुष्यों ने भी घरों, होटलों, दूकानों को सजाकर प्रकृति की तरह नव-वर्ष के रवि का अभिनन्दन किया। प्रत्येक मानव के मुख पर आज नवीन प्रसन्नता की आभा दिखाई दे रही थी।

सब लोग अपने-अपने मित्रों और सम्बन्धियों से मिलकर नव-वर्ष की शुभ-कामनाएँ कर रहे थे। मित्रगण एक दूसरे से बड़े प्यार से मिल रहे थे। समाचार-पत्रों ने भी अपने पाठकों के लिए नव-वर्ष की शुभकामनाएँ की थीं।

आज वर्ष का पहला दिन है। गत वर्ष के दिनों की तरह ही वेतन के रुपये एक-एक कर सब चले गये। पास में एक पैसा भी नहीं। प्रायः सब का यही विचार होता है कि वर्ष का प्रथम दिन यदि शान्ति और आराम से व्यतीत होता है, तो सम्पूर्ण वर्ष भी बाधाओं-रहित, सुख, शान्ति से बीतता है। मैंने भी आज प्रातः उठते ही निश्चय किया कि आज के दिन ऐसा कोई कार्य नहीं करूँगा, जो मेरे नाम को बट्टा लगाये। आज के दिन किसी से कर्ज नहीं लूँगा। माँगनेवाले भी आज न माँगें, तो अच्छा। आज के दिन को शान्तिपूर्वक व्यतीत करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

नव-वर्ष के बाल-रवि की किरणें कक्ष में प्रविष्ट हुई। सर्दी कड़ाके की पड़ रही थी। आज नहाना भी जरूरी था। अन्य दिन नहाने में विलम्ब

किया जा सकता है, परन्तु आज नहीं। शौचादि से निवृत्त होकर, तौलिया लेकर जब स्नान घर में पहुँचा, तो याद आया कि नहाने के साबुन का स्थान तो कल ही रिक्त हो गया था। अब नहायें भी तो कैसे ? साबुन के टुकड़ों की इधर-उधर तलाश की। कपड़े धोने के साबुन का एक टुकड़ा कोने में मिला। खैर, आज इसमें ही काम निकालेंगे। सिर पर पानी उँडेला और लगा बालों को साबुन लगाने। तत्पश्चात् हाथ दाढ़ी पर गया। 'धत् तेरे की' दाढ़ी बनाना तो भूल ही गया। अपनी बुद्धि पर बड़ा गुस्सा आया। नियमित रूप-से कार्य करने में बुद्धि सहयोग देती ही नहीं। इतने में थोड़ा-सा साबुन आँख में गिर गया और आँख लाल हो गई।

मुँह को पानी से धोकर शीशा सामने रख, लगा हजामत बनाने। परन्तु ब्लेड एक भी नयी नहीं मिली। पुराने वर्ष के साथ-साथ ब्लेड भी सब पुरानी हो चुकी थी। मन मसोस कर रह गया। अपने पर बड़ा गुस्सा आया, परन्तु नये वर्ष का खयाल कर मन को शान्त किया। लाचार होकर पुरानी ब्लेड से ही हजामत करनी शुरू की। ब्लेड पुरानी होने से जगह-जगह दाढ़ी पर बाल रह गये, और कहीं एक ही जगह बार-बार जोर लगाकर रेजर का प्रयोग करने से ठोड़ी छिल गई। ठोड़ी पर जगह-जगह रक्त की छोटी-छोटी बूँदें प्रकट हो गईं। कुंकुम-चित्रित नारियल की तरह रक्त की बूंदो-युक्त ठोड़ी को शीशे में देखकर बड़बड़ा उठा। एक बार ब्लेड को घृणा से देखकर सबको एक तरफ फेंक कर लगा स्नान करने।

स्नान करके कमरे में पहुँचा। बालों में कंघी की और लगा कपड़े पहनने। देखा बुशशर्ट के बटन टूटे हुए हैं। और कमीज, पैण्ट धोबी लाया ही नहीं। क्या पहन कर बाहर जायें ? बाहर जाना भी जरूरी। चाय पीने का समय हो गया। पास के कमरे में चाय की खुशबू आ रही थी। इससे चाय पीने की इच्छा और प्रबल हो गई। समस्या को सुलझाने के लिए दिमाग को भी कष्ट देना पड़ा। अन्त में खुले गले का कोट, बनियान पहन कर बाजार की तरफ चल पड़ा। पैरों में सुस्ती थी और सिर में था दर्द। शायद नियमित समय पर चाय न मिलने से ही ऐसा हो रहा था।

जहाँ प्रतिदिन चाय पिया करता था, उसी होटल पर पहुँचा। होटल वाले ने लापरवाही से मेरी तरफ देखा और फिर काम में जुट गया। जूठी गिलासें उठानेवाला छोकरा मुझसे सटकर निकला। होटलवाला यमदूत की तरह, हाथ में एक पर्चा लिये मेरे पास आ धमका। उसके उद्देश्य को मैं पहले ही समझ गया था। उसके कहने के पहले ही मैं बोल उठा 'तुम्हारे दोनों महीनों के पैसे कल दूँगा।'

'आपने आज के लिए वायदा किया था। कल तो हमेशा के लिए आगे ही रहेगा।'

'आज वेतन मिलने की उम्मीद थी, परन्तु नव-वर्ष का प्रथम दिन होने से अवकाश मनाया गया।'

'फिर नव-वर्ष के प्रथम दिन को चाय की क्या ज़रूरत ?' घृणायुक्त ये शब्द कहता हुआ होटल-मालिक चला गया। ये शब्द बहुत देर तक मेरे कानों में गूंजते रहे। कुछ बुरा भी लगा। स्वाभिमान भी जगा, परन्तु पैसे के अभाव में स्वाभिमान टूटे हुए तारे की भाँति क्षणिक प्रकाश कर लुप्त हो गया। मैं वहीं मूर्तिवत् किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा बैठा रहा। थोड़ी देर बाद आदेश लेने वाला एक नौकर आया। अन्य लोगों ने चाय आदि के आदेश दिये। मैंने भी दिल कड़ा करके कह दिया : 'एक कप चाय।'

'मालिक की आज्ञा है, जब तक पहले के पैसे न दें तब तक चाय न दी जाय।' लड़का यह कहकर चला गया। मेरे लिए यह दूसरा वज्रपात था। अन्य पास बैठे अपरिचित लोग भी मुझे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। होटल-वाले पर बड़ा गुस्सा आया। एकाएक कुर्सी से उठकर सबके बीच से चलता हुआ, होटल के बाहर आ गया। जिस समय उठकर चला, उस समय यह सोच रहा था कि उपस्थित लोग मेरी ओर घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं। होटल से बाहर आकर ही साँस ली। निरुद्देश्य लड़खड़ाते पैरों से सड़क पर चल पड़ा। आँखों के सामने अंधेरा-सा आ गया। खोंचेवाले से जा टकराया।

'बाबूजी, दिखाई नहीं देता है तो चश्मा लगा लीजिये। टकराना ही है, तो किसी सेठ की कार से टकराइये, मैं तो गरीब आदमी हूँ।' खोंचेवाले की कर्कश और व्यंगपूर्ण आवाज़ ने सचेत कर दिया।

पानवाले की दूकान पर देखा—घड़ी में दस बज चुके थे। गला सूख रहा था। ओठों पर पपड़ी जम गयी थी। सिर में भयंकर दर्द हो रहा था। सिर उठाकर सामने देखना भी दूभर हो रहा था। थकावट अंग-अंग पर सवार हो गयी थी। कानों में गूँज पैदा हो गयी। इन सबका कारण था, चाय का न मिलना तथा अपमान का मिलना। लगभग ग्यारह बजे सुनील के घर पहुँचा। वहाँ और कुछ नहीं, तो चाय मिलने की आशा अवश्य थी।

सुनील के घर मेहमान आये हुए थे। रीडिंग-रूम खुला देखकर अन्दर जा पहुँचा। सुनील ने उनसे मेरा परिचय कराया। मेरा परिचय कराते वक्त सुनील ने इस बात पर जोर दिया कि मैं एक कहानी लेखक हूँ। अनेक पत्र

पत्रिकाओं के नाम गिनाये, जिनमें मेरी कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं। सुनील प्रशंसा के पुल बाँधता रहा और मैं अपनी हीनावस्था पर कुढ़ता जा रहा था। पेट खाली होने पर सच्ची प्रशंसा भी प्रभावहीन, व्यर्थ हो जाती है। सुनील के मेहमानों से मुझे वाहवाही मिली, परन्तु उससे पेट थोड़े ही भरता था?

बातों ही बातों में बारह बज गये। संकोचवश सुनील से कुछ कह भी नहीं गया। थोड़ी देर बाद उसके मेहमानों के लिए खाना आ गया। सब भोजन करने के लिए बैठ गये। सुनील ने कहा 'आओ भोजन करें।'

न चाहते हुए भी एकाएक मेरे मुँह से निकल गया 'धन्यवाद ! मैं अभी भोजन करके ही आया हूँ।'

मेहमानों के लिए बनाये गये स्वादिष्ट पकवानों की गन्ध ने मेरी जठराग्नि को और तीव्र कर दिया। पकवानों को देखते ही मुँह में पानी भर आया। मन चञ्चल होकर मर्यादा के बन्धन तुड़ाने के लिए उतारू हो गया। अब वहाँ बैठा रहना मुश्किल हो गया। 'नमस्ते' करके उठकर चल पड़ा। मन में सोचने लगा—झूठ बोलकर पाप क्यों मोल लिया? साफ क्यों नहीं कह दिया कि हाँ, भोजन करूँगा। परन्तु अब क्या हो सकता था? अब समय बीत चुका था।

एकाएक ध्यान आया, सुनील से पाँच रुपये उधार ही माँग लेता। नहीं, आज के दिन किसी से कर्ज नहीं लूँगा। माँगना उचित नहीं है। स्वाभिमान जगा। दिल को कड़ा किया। उपवास अवश्य कर लूँगा, परन्तु किसी से आज ऋण नहीं लूँगा। परन्तु जो माँगनेवाले हैं, उनका क्या किया जाये?

हमेशा एक तारीख को वेतन मिल जाता है। परन्तु आज सरकार ने छुट्टी कर दी। हर महीने की पहली तारीख सुखद होती है। परन्तु नव-वर्ष का प्रथम दिन तो आज दुःखद बन रहा है। प्रथम दिन ही इतना समस्यापूर्ण है, तो न मालूम सारा साल कैसे बीतेगा? इन्हीं विचारों में डूबते-उतरते चलते-चलते जहाँ से चला था, वहीं आ गया। कक्ष खोला और पलंग पर पैर फैलाकर सो गया। व्रत ही करने का दृढ़ निश्चय करके, एक गिलास पानी पीकर सन्तोष कर लिया।

पोस्टमैन की आवाज पर कमरे से बाहर निकला। पोस्टमैन लिफाफा मेरी तरफ फेंक कर चला गया। लिफाफा उठाया, पत्र पत्नी का था। बड़ी खुशी और उत्साह के साथ पत्र खोला। पढ़ा। पढ़ते ही नानी याद आ गई। छोटा मुन्ना सीढ़ियों पर से फिसल कर गिर पड़ा है। पैर की हड्डी टूट गई है।

मुन्ना अस्पताल में है। रुपयों की शीघ्र आवश्यकता है। तार द्वारा रुपये शीघ्र भेजो।

गहरे दुःख की साँस ली। पत्र को मेज़ पर डाल दिया। सिर में दर्द और बढ़ गया। दम घुटने लगा। मन में अनेक प्रश्न उठने लगे—पत्नी ने मुन्ने की देख-भाल क्यों नहीं रखी ? यह कम्बख्त पत्र भी आज ही मिलना था। अब रुपये कहाँ से भेजूँ ? यहाँ सुबह से पेट में एक दाना भी नहीं पहुँचा और उधर डाक्टरों की फीस के लिए पैसे ! इस कमरतोड़ महँगाई के युग में वेतनभोगी का ईश्वर ही मालिक है।

मुँह पर चद्दर डालकर लेट गया। सोचने लगा कि क्या करना चाहिए ! जन्म-भूमि से सैकड़ों किलोमीटर दूर यहाँ पड़ा हूँ। यहाँ अपना कोई नहीं ? दुःख कहें भी तो किससे ?

मिलनेवाले सब स्वार्थी हैं। पास में पैसा हो, तो हजारों मित्र हैं; नहीं तो एक नहीं। धनाभाव के कारण मित्र भी अमावस्या के चाँद की भाँति ग़ायब हो जाते हैं।

दिनभर खूब चक्कर लगाये थे, इसलिए थककर चूर हो गया था। और फिर चाय नहीं मिली और न खाना मिला। सिर ही नहीं, सारा शरीर दर्द करने लगा था। थोड़ी देर बाद झपकी आ गई। इतने में किसी परिचित व्यक्ति की आवाज़ सुनाई दी। उठकर देखा—मुरारी था।

'कैसे आदमी हो, आज छुट्टी के दिन भी घर में घुसे पड़े हो ? आओ घूमने चलें !'

'मैं तुम्हारे आने से पहले ही काफ़ी सड़क नाप चुका हूँ। अन्त में थक कर आराम करने लेट गया था।'

'आज उदास नज़र आते हो, क्या बात है ? बाल-बच्चे याद आते होंगे ? चलो घूमने चलें !' मुरारी ने हाथ पकड़ कर उठा ही लिया। मैंने सोचा, चलो इनके साथ ही कहीं चाय मिल जाये। चप्पल पहनी और चल दिये लम्बी सड़क पर। मैंने ही प्रश्न किया :

'कहाँ चलोगे ?'

'पार्क में।'

'चलो बाजार में से होकर चलें।'

'क्यों, बाजार में चाय-वाय पियोगे ?'

'हाँ, पियेंगे।'

दोनो अशोक होटल में पहुँचे। अन्दर जाकर कुर्सियों पर बैठ गये। चाय की गन्ध से मन चचल हो उठा। शीघ्र चाय पीने की इच्छा हो रही थी। परन्तु प्रश्न पैसे का था। यदि आदेश दे दिया, तो पैसे देने पड़ेंगे। मुरारी ही आदेश (चाय के लिए) दे, तो अच्छा। मैं अपनी बेचैनी छिपाने के लिए अखबार उठा, कुर्सी पर आराम से बैठकर उसे पढने का बहाना करने लगा। बैरे ने आकर पूछा—'बाबूजी, क्या लाऊँ'?

मैंने सुना-अनसुना कर दिया। इतने में मुरारी बोल उठा—'दो चाय और बिस्कुट।' मेरे हृदय की गति कुछ ठीक हुई। अखबार दूर फेंका और चाय पर जुट गया। चाय पीकर चलने को हुए। दुर्भाग्य से मुरारी के पास भी पैसे नही थे। मैंने अपनी जेब टटोलते हुए कहा—'सॉरी, पैसे कोट की जेब में रह गये।' 'भले आदमी ऐसी ही बात थी, तो पहले कह देता। खैर कोई बात नही—कल दे देंगे।'

सिर से बला टली। शीघ्रता से होटल से बाहर आकर सड़क पर खड़ा होकर, मुरारी का इन्तजार करने लगा। चाय पीने से शरीर में कुछ शक्ति आ गई। मुरारी पैसे अपने नाम लिखवाकर आया और हम पार्क की तरफ चल पड़े।

नव-वर्ष की प्रथम दिन की सध्या हुई। सर्दी का प्रभाव प्रबल हुआ। जड-चेतन में शिथिलता दिखाई देने लगी। घर आकर पलग पर लेट गया। नव-वर्ष का प्रथम प्रभात जैसे बीता, वैसे ही बीती सध्या। पास में एक पैसा नही और न खाने की व्यवस्था। रात को सोते समय आदमी की सोचने-विचारने की शक्ति तीव्र हो जाती है और साथ ही मन कल्पना के घोड़े पर सवार होकर विश्व का भ्रमण करने लगता है। यही हाल मेरा हुआ। कभी महँगाई को कम करने के लिए योजना बनाने लगा और कभी वर्तमान जीवन पर रोष प्रकट करने लगा। एकाएक मुन्ने का चित्र सामने आ गया। वही पैसों की समस्या फिर मुँह फैलाये सामने आ खड़ी हुई। आशा बड़ी बलवान होती है। अगले दिन वेतन मिलने की मधुर आशा कर पलग पर लेटा रहा। दिन-भर का थका हुआ था, अत. भूखा होते हुए भी अनेक सुखद और दुःखद स्वप्नों वाली नींद की गोद में सो गया।

दूसरे दिन जल्दी उठा। वेतन प्राप्त होने की आशा के कारण नित्य-क्रिया से शीघ्र निवृत्त हुआ। मुँह धोया। बालो में पानी लगाकर कघी की। साढ़े दस बजने का इन्तजार करने लगा। परन्तु पड़ोसी की दीवार घड़ी

ने तो अभी नौ ही बजाये हैं। कार्यालय के समय से पूर्व ही कार्यालय की तरफ चल पड़ा।

कार्यालय खुलते ही उपस्थिति पंजिका में हस्ताक्षर करके कार्य में जुट गया। परन्तु भूखे पेट कभी कार्य होता है ? थोड़ी देर बाद ही वेतन वितरण करने वाले बाबूजी की मेज के पास जा जमा। बाबू रुपयों-पैसों का हिसाब कर रहा था। कभी तीन की जगह छह लिखकर घटाता था और कभी योग में अपनी गलती पाकर झुंझला रहा था। थोड़ी देर बाद आँखों पर लटके हुए चश्मे को, नाक की डंडी पर ठीक ठहराकर मेरी तरफ देखा। मैंने सोचा, यह अपनी ही गलती से उत्पन्न गुस्से को अकारण मुझ पर उतारेगा, परन्तु मैं तो सबकुछ सहने के लिए तैयार था।

'आपने दिसम्बर में अर्धवैतनिक अवकाश लिया था ?' बाबू ने कहा।

मैंने धड़कते दिल से कहा : 'हाँ, लिया था।'

'आपका बिल पास नहीं हुआ। बिल एतराज़-सहित वापिस आगया है। आज वेतन नहीं मिल सकेगा।'

आगे बाबू ने जो कुछ कहा, कुछ भी सुनाई नहीं दिया, क्योंकि कानों ने सुनना बन्द कर दिया था। आँखों के सामने अंधेरा छा गया। उठने की शक्ति नहीं रही। निश्चेष्ट कुर्सी पर न मालूम कितनी देर पड़ा रहा। होश आने पर जब उठकर चलने की चेष्टा करने लगा, तो मकान मालिक को सामने खड़ा देखकर फिर से मूर्च्छित हो गया।

●

विचून की बालिकाएँ

●

श्रीनाथ किशोर

विचून नामक ग्राम में मुझे लगभग चार साल तक रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वहाँ पर मेरे दैनिक जीवन के कार्यक्रमों में सर्वप्रथम कार्य था, प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर तथा शौचादि से निवृत्त होकर, ग्राम के बाहर लगभग आधे मील की दूरी पर स्थित एक पहाड़ी पर घूमने जाना तथा घूम कर घर आना।

जब मैं भ्रमणोपरान्त घर लौटने को होता और ग्राम-द्वार में घुसता, तो द्वार में प्रविष्ट होते-होते मेरे कानों में जैसे यह झंकार-सी आती .. . 'मोटा सूरदास।'

कई दिनों तक जब इसी प्रकार से यह ध्वनि सुनाई पड़ती रही, तो एक दिन बुद्धि ने विचार किया, आखिर इसका पता तो लगाना चाहिए। पता लगना कोई मुश्किल बात नहीं थी।

बात यह थी कि ग्राम की चार-पाँच छोटी-छोटी बालिकाएँ प्रातःकाल गोबर इकट्ठा करने के लिए, उसी ग्राम-द्वार के पास आकर, थोड़ी दूर एक मैदान में बैठा करती थी, जहाँ पर गायों-भैंसों का समूह घेर में जंगल जाने के लिए एकत्रित हुआ करता था। वहीं उनकी किलोलें होती, परस्पर पोटो (गोबर) के लिए लड़ाइयाँ होती, गालियों की बौछारें भी कभी-कभी बालिकाओं के मुखों से होने लगती और फिर एक की एक हो जाती। कभी हँसती, कभी नाचतीं, कभी गीत भी गाने लगती। उनके उस मनोरम बाल्यकाल को देखकर मुझे भी अपना बाल-जीवन बरबस स्मरण हो जाता था, जिसको कि हम पार कर चुके थे।

ये बालिकाएँ जब घूमकर ग्राम द्वार की ओर आते हुए मुझे देखती, तो प्रफुल्लित हो जाती। भला क्यों न होतीं—मेरा स्थूल शरीर, हाथ में

डण्डा, इकलगी ऊँची धोती और तन पर कुर्ता तथा गले में अंगोछा, कुछ उनको विचित्र-सा ही वेष लगता था, मानो यह तो 'मोटा सूरदास' है, अतः वे मुझे देखकर धीरे-धीरे कहना शुरू करतीं, 'मोटा सूरदास, मोटा सूरदास आ रहा है ! मोटा सूरदास !' पर ज्यों-ज्यों मैं उनके निकट आता जाता, त्यों-त्यों वे और भी धीमे स्वर से उन्हीं वाक्य-खण्डों को दोहरातीं। पर मेरा अभिनय उनके समक्ष ऐसा रहता, जैसे उनकी बात पर मेरा कोई ध्यान है ही नहीं।

परन्तु जब मैं पुनः उनसे दूर जाकर ग्राम-द्वार में प्रविष्ट होने को होता तब वे अपना सारा साहस बटोर कर, एक बार अन्त में ज़ोर से 'मोटा सूरदास' कहते हुए परम संतुष्टि प्राप्त करतीं।

मैं यह सुनकर मन ही मन बड़ा प्रसन्न होता और भगवान से प्रार्थना करता—'प्रभु ! इन देवियों की बोली फले। वह कितना शुभ दिन हो मेरे लिए कि जिस दिन मैं वही बन जाऊँ, जो ये बालिकाएँ कहती हैं : 'मोटा सूरदास।' अहा ! सूरदास !! आपका परमभक्त, परमसखा, इत्यादि।

इस प्रकार यह क्रम कई दिनों तक सहज-भाव से ही चलता रहा। और उन बालिकाओं के लिए तथा मेरे लिए, दोनों ही पक्षों में एक सुखदायी विषय बना रहा।

किन्तु शोक कि उन बालिकाओं ने एक दिन मुझे मेरे वास्तविक प्रधानाध्यापकीय भेष में, जूते, मोजे, नेकर, कमीज, घड़ी, डण्डा इत्यादि पहने हुए, खेल के मैदान में जाते समय देख लिया और किसी न किसी तरह वे पहचान गईं कि यह तो हैडमास्टर है, जिसे वे अब तक 'मोटा सूरदास' कहती रहीं।

फलतः उनके कोमल हृदय में स्वतः ही (मेरे अथवा अन्य के उनसे कुछ कहे-सुने बिना ही) मेरे हैडमास्टरपने का आतंक छा गया और इसलिए उन्होंने आगामी दिन से मुझे 'मोटा सूरदास' कहना छोड़ दिया। यद्यपि वही समय, वे ही बालिकाएँ, वह ही मैं और मेरी धोती-कुर्ते वाली पोशाक, वैसे ही हमारा मिलन भी होता, पर वे अब मुझे देखकर चुपचाप हो जातीं और कुछ भी नहीं कहतीं।

जब कई दिन इसी तरह चुपचाप निकल गये, तो एक दिन मैंने स्वयं ही उनसे हँसते हुए पूछा—'बच्चों ! अब तुम अपनी मधुर वाणी से मुझे 'मोटा सूरदास' क्यों नहीं कहतीं ?' उन्होंने विस्मयपूर्वक उत्तर दिया, 'म········ अ········अ········। थे तो हैडमास्टर जी छो।' मैंने बड़े प्रेम से उनकी यह बात सुनी और उनका साहस बढ़ाने के लिए तथा उनके हृदय में से आशंका

हटाने के लिए कहा : 'तो बहिनो, हैडमास्टर तो मैं उन लड़कों का हूँ जो मेरे पास पढ़ते हैं, तुम्हारा थोड़े ही हूँ !'

पर वे भोली बालिकाएँ मौन ही रहीं और फिर आज तक भी, वे भोले और मर्मस्पर्शी वचन मुझे कहीं सुनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका। यद्यपि चार वर्ष व्यतीत होने को आये, मेरी अन्तर्दृष्टि में उन पवित्र बालिकाओं के चेहरे नाचते ही रहते हैं और मेरे एकान्तक्षण धन्य-से हो उठते हैं।

●

पत्थर बोलते हैं

❁

नृसिंहराज पुरोहित

जी हाँ, पत्थर बोलते हैं। आप चौंकिये मत। यह बात बिल्कुल सही है कि पत्थर बोलते हैं। पर उनको सुनने के लिए योग्य कान चाहिए। जिस किसी ने उनको बोलते सुना है, उसी माध्यम से आप भी मेरी राम-कहानी सुन सकते हैं। हाँ, तो सुनिये, मैं जालोर का किला बोल रहा हूँ।

मैं जिस पर्वत पर खड़ा हूँ, उसका नाम सोनगिरि है। इस पर्वत का यह नाम मेरे शासक सोनगरा चौहान राजपूतों की वजह से पड़ा है। मैं ज़रा धीरे बोलूँ, तो मुझे क्षमा करिएगा, क्योंकि मैं अतिशय वृद्ध हूँ। मेरी उम्र करीब बारह सौ वर्ष की है। सर्वप्रथम मेरा निर्माण दहिया राजपूतों ने आठवीं शताब्दी में किया था। आज जो आप मेरा जीर्णशीर्ण रूप देख रहे हैं, यह तो बहुत बाद की रचना है। मेरा प्राचीनतम रूप देखना चाहें, तो कृपया ऊपर आने का कष्ट करिएगा। पर ज़रा संभल-संभल कर, धीरे-धीरे चढ़ियेगा। ऐसा न हो, कहीं पैर फिसल जाय। मार्ग के पत्थर घिस-घिस कर चिकने जो हो गये हैं। तिस पर मार्ग ऊबड़-खाबड़ है और चढ़ाई भी काफ़ी है। अरे यह क्या?

केवल दो ही प्रोलें पार कीं और आप तो हाँपने लग गये। अभी तो दो प्रोलें और पार करनी हैं। वह देखिये, ऊपर वाली प्रोल के बड़े-बड़े किवाड़ दिखाई दे रहे हैं। देखते हैं न? इन्हें मारवाड़ नरेश महाराजा अभयसिंहजी अहमदाबाद से फतह कर के लाए थे। मेरे अन्दर के शिवालय में आपको एक विशाल श्वेत शिवलिंग मिलेगा, जो बाण-सहित एक ही पत्थर का बना हुआ है। वह भी इन किवाड़ों के साथ हाथी की पीठ पर अहमदाबाद से लाया गया था।

पर यह तो अभी बाद की बात है। मैं तो आपको अपना प्राचीनतम रूप दिखलाना चाहता हूँ। अतः आप सीधे चले आइये और मेरे दक्षिणी छोर के प्रकोष्ठ पर खड़े हो जाइये। यह देखिये, सामने बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट सी भग्न प्रकोष्ठ-रेखा दिखाई दे रही है। यही दहियों द्वारा निर्मित मेरा प्राचीनतम रूप है, जिसे दहियों के पुराने किले के नाम से जाना जाता है। आज भी होली के दिनों में जब मैं, 'जालोर रा किला ऊपर दहिया राज करता रे' फाग की कड़ियें सुनता हूँ, तो मुझे अपना शैशव याद आ जाता है। शैशव आखिर शैशव ही है, अतः उसकी धुंधली-सी स्मृति मात्र है। परन्तु यह मुझे भली प्रकार याद है कि मेरे आदि निर्माता इन्हीं दहिया सरदारों ने आगे चल कर मुझे पद-दलित करवाया था। यह घटना मेरी युवावस्था की है।

दहियों के पतन पर मैं सोनगरा चौहानों के अधिकार में आया। यह घटना कोई नवीं शताब्दी की है। सोनगरे उद्भट वीर-योद्धा थे। मेरे शरीर पर उनकी अजेय वीर पताका लगातार चार सौ वर्ष तक फहराती रही। वह मेरे जीवन का स्वर्ण युग था। तब सोनगरों की यश-प्रशस्ति के साथ मेरी धवल-कीर्ति भी दशों दिशाओं में व्याप्त थी। उन दिनों की याद कर के आज भी मेरी नसों में गर्म रक्त प्रवाहित होने लगता है। इसी सोनगरा वंश में तेरहवीं शताब्दि में कान्हड़देव एक प्रसिद्ध व्यक्ति हुए और इन्हीं के सुपुत्र हुए वीरमदेव सोनगरा, जिनकी यश-प्रशस्ति आज भी जन-जन की जिव्हा पर है।

आप प्रकोष्ठ पर खड़े-खड़े थक गये होंगे, अतः आइये, थोड़ा विश्राम कर लीजिये। वह देखिये, सामने वीरमदेव की चौकी दिखाई दे रही है। वहीं चलिये, किले में तो क्या इस पर्वत पर भी सब से ऊँची जगह वही है। देखिये दस पन्द्रह मील के क्षेत्र में आस पास चारों ओर के सब गाँव साफ दिखाई दे रहे हैं। यही वह पवित्र स्थल है, जहाँ सिर कट जाने के बाद भी वीरमदेव खूब देर तक लड़ते रहे थे और उनके धड़ ने लगातार तलवार चला कर यवन सेना के छक्के छुड़ा दिये थे। बिना मुण्ड के धड़ के जूझने की जरा कल्पना तो कीजिये, रोंगटे खड़े हो जायेंगे। वह दृश्य आज भी मेरी आँखों के सामने उसी अवस्था में घूम रहा है। उसी की स्मृति-स्वरूप यह चौकी बनी हुई है।

वीरमदेव के समय में दिल्ली के बादशाह अल्लाउद्दीन खिलजी ने मुझ पर एक-एक कर के तीन बार आक्रमण किये थे। खिलजी का प्रथम आक्रमण उस वक्त हुआ जब कि वह गुजरात विजय करके वापस लौट रहा था।

गुजरात जाते समय उसे मेरे राज्य की सीमा में से नहीं गुजरने दिया गया था। इसी बात से क्रुद्ध होकर वह मुझ से बदला लेना चाहता था। पर इस आक्रमण में उसे मुँह की खानी पड़ी, जिससे उसकी गुजरात-विजय पर भी पानी फिर गया। शहंशाहे हिन्द इसे कैसे सहन कर सकता था? उसने दुबारा आक्रमण किया और उसकी फौजें लगातार सात वर्ष तक मुझे घेरे पड़ी रहीं, मगर अन्त में पराजय ही पल्ले पड़ी।

शहंशाह के मुँह पर कालिख पुत गई। इधर उत्तर में देखिये, शहर पनाह से दूर जो मस्जिद दिखाई दे रही है, वह इसी घेरे के समय सर्वप्रथम बनी थी। मेरी धवल कीर्ति की अमर-गाथा के साथ-साथ वीरमदेव के शौर्य और पराक्रम की कहानियाँ भी ठेठ बादशाह के हरम तक दिल्ली पहुँचीं।

अतः इनसे प्रभावित होकर, शहंशाहे हिन्द अल्लाउद्दीन खिलजी की शहजादी फिरोजा, अपने वालिद के कट्टर दुश्मन वीरमदेव को अपना दिल दे बैठी। उसके द्वारा भेजे गये गुप्त प्रणय-संदेशों को मैं बड़े चाव से सुना करता था। आज भी उनकी याद आने पर हृदय में गुदगुदी उत्पन्न हो जाती है। कैसी मस्ती के दिन थे वे। पर खिलजी के तीसरे आक्रमण ने मेरे वे सुनहले दिन समाप्त कर दिये।

इस आक्रमण के समय सोनगरों द्वारा मजाक में कहा गया वाक्य कि 'दहिये किला फतह करवा देंगे' एक दहिये सरदार को चुभ गया और वह तीसरी बार निराश लौटती हुई यवन सेना को, जो एक मंज़िल तय कर के समदड़ी के पास, जहाँ आज मजल गाँव बसा हुआ है, पड़ाव डाले थी, वापस घेर लाया। इसके बाद जो होना था, वही हुआ। 'घर का भेदी लंका ढावे' वाली बात चरितार्थ हुई और साथ ही साथ 'रायां रा भाव रातैं बीता' कहावत प्रसिद्ध हो गई। वीरमदेव वीरगति को प्राप्त हुए। सोनगरों का सूर्य अस्त हो गया। और शहजादी फिरोजा ने आजन्म कुँवारी रहने का व्रत धारण कर, प्रणय की बलिवेदी पर अपने जीवन को होम दिया। सोनगरों के बाद मुझ पर खिलजी वंश, पठान वंश, बलोच वंश और अन्त में राठौड़ वंश का अधिकार रहा। इस काल में मैंने बड़ी उथल-पुथल देखी है। यहाँ से बैठे-बैठे आप जैसा मेरा ऊबड़-खाबड़ रूप देख रहे हैं, ठीक वैसा ही मेरा सम्पूर्ण जीवन भी रहा है। मेरी धरती पर वीरों ने अनेक बार केसरिया धारण कर, जी भर कर रक्त का फाग खेला है और रमणियों ने अनेकों बार अग्नि-स्नान कर के अपनी फूल-सी कोमल काया को निर्मल बनाया है। मारवाड़ नरेश महाराजा मानसिंह ने अपनी मुसीबत के दिन मुझ में ही तथा पास के सिरे मन्दिर में काटे थे।

यहीं पर उन्हें कोटड़ा ग्राम निवासी चारण जुगतीदान की अपूर्व स्वामि-भक्ति का परिचय मिला था, और यहीं पर उन्हें एक चरवाहे द्वारा गुरु जालधरनाथ की भविष्यवाणी का चमत्कार भी देखने को मिला था।

इस प्रकार मेरा जीवन ऐतिहासिक घटना-चक्रों की एक लम्बी शृंखला रहा है। इन घटनाओं का महत्व अन्तर्प्रान्तीय ही नहीं बल्कि अन्तर्देशीय रहा है, अतः निष्पक्ष रूप से देखा जाय, तो मैं अपने अन्य किसी भी सहयोगी से कम महत्वपूर्ण नहीं हूँ। परन्तु समय की गर्दिश और लोगों की नजरदाजी ने मुझे उपेक्षित बना रखा है, फिर भी कोई चिन्ता नहीं, कारण कि मैं अपना जीवन शान से बिता चुका हूँ। अब आइये, मैं आपको अपनी सम्पूर्ण सैरा करा दूँ और जो कुछ भी सामग्री मेरे पास बच रही है, उसका अवलोकन भी करा दूँ।

वीरमदेव की चौकी की ठीक छाया में देखिये, यह उन मुसलमान बहादुरों की कब्रें हैं जो मैदाने-जंग में कुर्बान होकर शहीद हो गये। कैसी सुनसान डरावनी जगह है। आप जरा सभल कर चलिएगा, कहीं ऐसा न हो कि अनजाने किसी कब्र के ठोकर लग जाय और कोई रह बोल उठे

पामाल कर न जालिम, ठोकर से ये मजारें,
इस शहरे-खामोशी को, मर मर के बसाया है।

घूमते हुए काफी देर हो गयी, आपको प्यास लग गई होगी; वह देखिये सामने सोनगरों द्वारा निर्मित विशाल बाव दिखाई दे रही है। अमृतसम शीतल जल है इसका। इसके अलावा मुझ में दो जलागार और हैं—एक छोटी बाव और दूसरा राजमहल का जलमण्डार। उनका भी जल बहुत सुस्वादु है।

आप जल पीकर शिवालय में इस विशाल शिवलिंग के दर्शन भी कर लीजिये, जिसका उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ। इसके बाद मेरे उन प्रसिद्ध राजमहलों को देख लीजिये, जिनके प्रागण में कदम रखने ही कोई भी भावुक हृदय आज भी भाव-विह्वल हुए बिना नहीं रह सकता। राजमहलों में बनी भूल-भुलैया देखना न भूलिएगा। वह भी एक विचित्र जगह है। कृपया ध्यान रहे कि यह सब निर्माण चौदहवीं शताब्दी का है। राजमहल देख चुके हों, तो आइये मैं आपको जैन मन्दिर दिखा दूँ।

ये सख्या में पाँच हैं। इनमें से मुख्य मन्दिर का निर्माण सवत् १६८३ में तत्कालीन जैन मंत्री ने करवाया था और मन्दिर की प्रतिष्ठा प्रसिद्ध विद्वान श्री विजयदेव सूरि ने करवाई थी। देखिये, मन्दिर की स्थापत्य-कला कितनी सुन्दर है और मूर्तियाँ कितनी भव्य हैं। मन्दिर के पास ही जो मस्जिद दिखाई दे रही है, वह किसी युग में मेरी आम बैठक थी। बाद में उसे मस्जिद बना दिया गया। बस संक्षेप में यही मेरी राम-कहानी है। ●

काम की बातें

चतुर्भुज शर्मा

वसन्त के ये दिन बड़े काम के दिन हैं। हमारी कड़ी परीक्षा का अवसर है यह। काम के इस समय को हँसी-खुशी में या दिल्लगी-दिल्लगी में ही खो देना कतई समझदारी का काम नहीं। हमें 'काम का वक्त' देखकर 'वक्त का काम' वक्त पर करना ही होगा, 'हाथ का काम' हाथों-हाथ निवटाना ही पड़ेगा। इस समय यदि हमने 'काम से जी चुराया' या 'काम में दिल न लगाया' अथवा 'काम करते समय मन में आलस आया,' तो सोच लो 'काम बनने का नहीं,' कामनाएँ पूरी होने की नहीं, मन का सोचा मन में ही रहजाना है।

यह खेती-किसान का काम, ये कताई-बुनाई के हुनर और ये मिट्टी-कुट्टी के उद्योग क्या कम उपयोगी काम हैं? यदि ये ऐसे-वैसे ही काम होते, तो फिर इन्हें हर कोई कर लेता। तब किसान न 'अन्नदाता' कहाता और न कुम्हार 'प्रजापति'। भगवान की भाँति बुनकर को भी 'सूत्रधार बनाने और नित्य नया पट-परिवर्तन करने की पटुता प्रदान करने में, काम का ही हाथ है।

ध्यान रखिये—'काम से मुँह मोड़ना' अथवा 'अधूरा काम छोड़ना' बे-काम आदमियों के काम हैं। 'काम को बिगड़ने देना,' 'काम को पिछड़ने देना,' 'काम को बढ़ने देना' और 'काम को चढ़ने देना' काम-चोरों के काम हैं। 'काम का विगाड़' अथवा 'बिगाड़ का काम' करने वालों के काम सदा खराब ही हुए हैं। मेहनत से काम करने वालों की मेहनत कभी बेकार नहीं जाती।

'कहीं भी काढ़ लेना' अथवा 'कैसा भी काम कर देना' न कोई 'कम काम की बात' है और न 'छोटे-मोटे की औकात'। हममें से 'अपना काम

बनाना,' तो सभी जानते होंगे, पर 'पराये काम आना' कितनों ने जाना है? जिसे 'अपने काम से काम' है, उसे 'और के काम से क्या लेना-देना?' जब काम से 'नाम कढ़ता है,' 'नाम पड़ता है,' तो फिर 'नाम के ही काम' करते रहना क्या 'अक्लमन्दी का काम' है?

जिन्होंने दुनिया देखी है, वे जानते हैं कि कैसे 'काम किये जाते है और किस प्रकार काम लिये जाते हैं'? किसको 'काम दिये जाते हैं, तथा कौन-से काम दिये जाते हैं?' जो 'काम अच्छा जमाते' हैं, दाम अच्छे ही कमाते हैं। जो 'काम खोटा उठाते' हैं, सदा खोटा ही खाते हैं।' 'काम की अच्छाई' 'अच्छाई के काम' में है। 'काम का सुधार,' 'कम सुधार का काम' नहीं। 'काम का विचार' 'विचार का ही काम' है। 'काम की पढ़ाई' छोड़ दें, तो पढ़ाई किस काम की? काम की बड़ाई इसी में है कि 'बड़ी-बड़ी बातें न बना, बड़े-बड़े काम बना लें' 'काम' ही की सेवा करने वाले रोगी होते हैं, तो सेवा का ही काम करने वाले भोगी! सदा 'काम का ही चिन्तन' अथवा 'चिन्तन का ही काम' करते रहना भी ठीक नहीं।

'बे-काम बात' और 'बे-बात काम' दोनों ही बुरे हैं। 'काम की बातें' बनाना तो फिर भी ठीक, लेकिन 'बातों के ही काम' करते रहना कतई काम की बात नहीं। कहीं बातों से भी काम कढ़े हैं? कहने से भी भूख भगी है? यों तो कभी न कभी बातों ही बातों में कोई न कोई काम की बात कहीं न कहीं से कढ़ आती है, पर काम तो काम करने से ही चलेगा।

याद रखिये—यहाँ पग-पग पर एक का दूसरे से 'काम कढ़ता है' और बात-बात में एक का दूसरे से 'काम पड़ता है।' न कोई काम बड़ा है और न कोई काम छोटा। सभी काम काम के हैं, सारी दुनिया काम की है और सारे काम दुनिया के। फिर भी हाथ में कोई काम लेने से पहले यह देख लेना कि यह काम अच्छा है या बुरा, खोटा है या खरा, हल्का है या भारी, अभी करने का है या फिर करने का, घर का है या बाहर का, एक का है या अनेक का, होने का है या न होने का, करने का है या न करने का, विचारने का है या समझने का—सोच लेना पहला काम है।

आज का काम कल पर छोड़ने वालों के अथवा हाथ पर हाथ धर बैठे रहने वालों के काम कभी पूरे होने के नहीं। जो हर काम में मुँह ताकें अथवा काम आ पड़ने पर दूसरों की बगलें झाँकें, वे किस काम के आदमी? जिन्होंने अपने काम को काम समझा, दिन देखा न रात, दुःख देखा न सुख, काम करके ही छोड़ा—सफल-काम और कृत-नाम हुए हैं।

काम से प्रेम हो, तो प्रेम से काम करो। काम से भाग्य बनता और बिगड़ता है। काम से ही दुनिया में आराम मिलते हैं। काम की प्यास ऐसे-वैसे पानी से बुझने की नहीं। इसके लिए खून और पसीना एक करना पड़ेगा। जिन्हें काम की भूख है, उन्हें भूख का भान कहाँ ?

काम के कई रूप हैं, कभी काम लम्बा हो जाता है, तो कभी काम छोटा पड़ जाता है। कभी काम निकालने पर भी नहीं निकलता, तो कभी काम बिना निकाले ही निकल जाता है। कभी काम बनते-बनते बिगड़ जाता है, तो कभी बिगड़ते-बिगड़ते भी बन जाता है। कोई काम कठिन होता है, तो कोई काम सरल। कोई काम रुचिकर होता है, तो कोई काम रूखा। कहीं काम, काम ही नहीं रहता, तो कहीं काम ही काम लगा रहता है। इतने पर भी काम तो सबको करना ही पड़ता है।

काम की गतिविधियाँ बड़ी विचित्र हैं। कभी काम 'कान काटने वाले' हो जाते हैं, तो 'कभी नाक काटने वाले'। कहीं काम 'मुँह दिखाने लायक ही नहीं रखता,' तो कहीं 'सिर आँखों चढ़ाने योग्य बना देता है।' 'कोई काम नाकों चने चबवाता है', तो कोई काम 'दाँतों तले अंगुली दबवाता है,' किसी को काम करते 'नानी याद आने लगती है,' तो 'किसी की बधिया ही बैठ जाती है।' इतने पर भी कई सिरफिरे ऐसे देखे, जो काम को सिर पर चढ़ा लेते हैं, कल की आशा में आज मौजें मारते हैं। ऐसा करना नासमझी का काम है। काम से जी चुरा कर कोई भी किसी का जी नहीं चुरा सकता। काम से तबियत हटाई कि तबियत से काम होगा ही नहीं।

हर जगह काम की पूजा हुई है और हर जमाने में काम पूजा गया है। जहाँ काम वहाँ दाम। जैसा काम वैसा नाम। काम देवता है, दुनिया को दीवाना करने वाला। काम काम-धेनु है, सारी मनोकामनाएँ पूरी करने वाली। काम से कौन जीता है ? जिसने काम की हँसी उड़ाई, उसकी काम ने भी हँसी उड़ाई है। जिसने काम को जलाया, उसे काम ने भी जलाया है। काम को नीचा समझने वाले नीच हो गये और काम को ऊँचा उठाने वाले ऊँचे। काम से भगवान भी डरते हैं, तभी तो बेचारे दिन-रात काम करते हैं। काम सब पर छाया है। काम की ही सारी माया है। जब तक शरीर में राम है, इस जीव को काम ही काम है। एक भी ऐसा ठाम नहीं अथवा एक भी ऐसा नाम नहीं, जिसे काम से काम नहीं। ईश्वर को तो कोई माने या न माने, पर काम को तो सबने माना है। जिस दिन काम का अन्त होगा, समझलो—उस दिन सच्चा 'बस-अन्त' होगा।

एक अविस्मरणीय यात्रा

●

मदनलाल शर्मा

प्राचीनकाल से ही लोग अपशकुन तथा शुभशकुन, बराबर मानते आ रहे हैं। कई पुराने लकीर के फकीर तो इन पर इतना गहरा विश्वास करते हैं कि कोई शुभ या अशुभ शकुन हो जाने के बाद, उनके निश्चय को बदलना, हिमालय की सबसे ऊँची चोटी पर चढ़ने से अधिक कठिन कार्य बन जाता है। सच तो यह है कि ऐसे लकीर के फकीर, उस अच्छे या बुरे शकुन में ही, अपने कार्य की सफलता या असफलता का साक्षात् प्रतिबिम्ब देखने लगते हैं। हमारे गाँव में गोपी नाम का एक ब्राह्मण है। लोग उसे 'गोपी दादा' कहकर पुकारते हैं। सारे गाँव के लोग अपशकुनों तथा शुभ-शकुनों का विशेषज्ञ उसे ही मानते हैं। किसी भी शकुन का फल बुरा होगा या अच्छा, इसका गम्भीरतापूर्ण निर्णय गोपी दादा के पास ही होता है। बिल्ली के रास्ता काट देने पर परिणाम बहुत बुरा होता है। काणे ब्राह्मण के मार्ग में मिल जाने पर, बनता-बनता कार्य बिगड़ जाता है। चलते-चलते आप के दाएँ हाथ की ओर गधा मिल जाने पर या मार्ग में मुर्दा मिल जाने पर, कार्य के सफल होने की शत-प्रतिशत आशा की जा सकती है। इस प्रकार के अटल निर्णय देने का साहस गोपी दादा के अतिरिक्त और कर ही कौन सकता है? न मालूम इस अनोखी विद्या का अध्ययन गोपी दादा ने किस पाठशाला में किया है। बहुत सोच-विचार करने के बाद मैं तो इसी निर्णय पर पहुँचा हूँ कि शायद यह अद्भुत विद्या, गोपी दादा को, अपनी पिछली पीढ़ियों से विरासत में ही मिली होगी। गाँव में गोपी दादा ही इस क्षेत्र का विशेषज्ञ है। इसलिए सारे गाँव में गोपी दादा का *अपशकुनों-सम्बन्धी फैसला अन्तिम निर्णय माना* जाता है। गोपी दादा की आयु लगभग ८५ वर्ष की है। मैली ढीली-ढाली धोती, बन्द गले का चोला तथा कन्धे पर एक असाधारण अंगोछा इत्यादि, गोपी

काम से प्रेम हो, तो प्रेम से काम करो। काम से भाग्य बनता और बिगड़ता है। काम से ही दुनिया में आराम मिलते हैं। काम की प्यास ऐसे-वैसे पानी से बुझने की नहीं। इसके लिए खून और पसीना एक करना पड़ेगा। जिन्हें काम की भूख है, उन्हें भूख का भान कहाँ ?

काम के कई रूप हैं, कभी काम लम्बा हो जाता है, तो कभी काम छोटा पड़ जाता है। कभी काम निकालने पर भी नहीं निकलता, तो कभी काम बिना निकाले ही निकल जाता है। कभी काम बनते-बनते बिगड़ जाता है, तो कभी बिगड़ते-बिगड़ते भी बन जाता है। कोई काम कठिन होता है, तो कोई काम सरल। कोई काम रुचिकर होता है, तो कोई काम रूखा। कहीं काम, काम ही नहीं रहता, तो कहीं काम ही काम लगा रहता है। इतने पर भी काम तो सबको करना ही पड़ता है।

काम की गतिविधियाँ बड़ी विचित्र हैं। कभी काम 'कान काटने वाले' हो जाते हैं, तो 'कभी नाक काटने वाले'। कहीं काम 'मुँह दिखाने लायक ही नहीं रखता,' तो कहीं 'सिर आँखों चढ़ाने योग्य बना देता है।' 'कोई काम नाकों चने चबवाता है', तो कोई काम 'दाँतों तले अंगुली दबवाता है,' किसी को काम करते 'नानी याद आने लगती है,' तो 'किसी की बधिया ही बैठ जाती है।' इतने पर भी कई सिरफिरे ऐसे देखे, जो काम को सिर पर चढ़ा लेते हैं, कल की आशा में आज मौजें मारते हैं। ऐसा करना नासमझी का काम है। काम से जी चुरा कर कोई भी किसी का जी नहीं चुरा सकता। काम से तबियत हटाई कि तबियत से काम होगा ही नहीं।

हर जगह काम की पूजा हुई है और हर जमाने में काम पूजा गया है। जहाँ काम वहाँ दाम। जैसा काम वैसा नाम। काम देवता है, दुनिया को दीवाना करने वाला। काम काम-धेनु है, सारी मनोकामनाएँ पूरी करने वाली। काम से कौन जीता है ? जिसने काम की हँसी उड़ाई, उसकी काम ने भी हँसी उड़ाई है। जिसने काम को जलाया, उसे काम ने भी जलाया है। काम को नीचा समझने वाले नीच हो गये और काम को ऊँचा उठाने वाले ऊँचे। काम से भगवान भी डरते हैं, तभी तो बेचारे दिन-रात काम करते हैं। काम सब पर छाया है। काम की ही सारी माया है। जब तक शरीर में राम है, इस जीव को काम [illegible] एक [illegible] म नहीं अथवा एक भी ऐसा नाम [illegible] तो कोई माने या न [illegible] अन्त होगा,

म [illegible]

एक अविस्मरणीय यात्रा

●

मदनलाल शर्मा

प्राचीनकाल से ही लोग अपशकुन तथा शुभशकुन, बराबर मानते आ रहे हैं। कई पुराने लकीर के फकीर तो इन पर इतना गहरा विश्वास करते हैं कि कोई शुभ या अशुभ शकुन हो जाने के बाद, उनके निश्चय को बदलना, हिमालय की सबसे ऊँची चोटी पर चढ़ने से अधिक कठिन कार्य बन जाता है। सच तो यह है कि ऐसे लकीर के फकीर, उस अच्छे या बुरे शकुन में ही, अपने कार्य की सफलता या असफलता का साक्षात् प्रतिबिम्ब देखने लगते हैं। हमारे गाँव मे गोपी नाम का एक ब्राह्मण है। लोग उसे 'गोपी दादा' कहकर पुकारते हैं। सारे गाँव के लोग अपशकुनों तथा शुभ-शकुनों का विशेषज्ञ उसे ही मानते हैं। किसी भी शकुन का फल बुरा होगा या अच्छा, इसका गम्भीरतापूर्ण निर्णय गोपी दादा के पास ही होना है। बिल्ली के रास्ता काट देने पर परिणाम बहुत बुरा होता है। काणे ब्राह्मण के मार्ग मे मिल जाने पर, बनता-बनता कार्य बिगड़ जाता है। चलते-चलते आप के दाएँ हाथ की ओर गधा मिल जाने पर या मार्ग मे मुर्दा मिल जाने पर, कार्य के सफल होने की शत-प्रतिशत आशा की जा सकती है। इस प्रकार के अटल निर्णय देने का साहस गोपी दादा के अतिरिक्त और कर ही कौन सकता है? न मालूम इस अनोखी विद्या का अध्ययन गोपी दादा ने किस पाठशाला मे किया है। बहुत सोच-विचार करने के बाद मैं तो इसी निर्णय पर पहुँचा हूँ कि शायद यह अद्भुत विद्या, गोपी दादा को, अपनी पिछली पीढियो से विरासत मे ही मिली होगी। गाँव मे गोपी दादा ही इस क्षेत्र का विशेषज्ञ है। इसलिए सारे गाँव में गोपी दादा का अपशकुनों-सम्बन्धी फैसला अन्तिम निर्णय माना जाता है। गोपी दादा की आयु लगभग ८५ वर्ष की है। मैली कुचैली-डाली धोती, बन्द गले का चोला तथा कन्धे पर एक असाधारण अंगोछा इत्यादि, गोपी

दादा का पूरे गाँव से बिलकुल भिन्न पहरावा है। सिर पर लगभग एक गज लम्बी चोटी तो कई बार यह भ्रम खड़ा कर देती है कि गोपी दादा चन्द्रलोक से टपका हुआ आदमी ही होगा। गोपी दादा का घर क्या है, एक साक्षात् अजायबघर, जिसमें हर चीज़ अपनी खस्ता हालत में पड़ी-पड़ी शताब्दियों पुराने समय की याद दिलाती है।

गोपी दादा का घर गाँव के ठीक मध्य में स्थित है। कोई भी शुभ या अशुभ शकुन हो जाने पर, गाँव के प्रत्येक आदमी को, शुभ या अशुभ फल सुनने के लिए गोपी दादा का दरवाज़ा खटखटाना ही पड़ता है। पहले तो मैं भी इस मामले में गाँव के समस्त लोगों से पूर्णतया सहमत था, परन्तु बी० एससी० करने के बाद, अपनी इस छोटी-सी आयु में, सदा वैज्ञानिक मनोवृत्ति से वशीभूत होकर, मैंने गोपी दादा के निर्णय को प्रयोग की कसौटी पर कसे बिना उस पर विश्वास करना अपनी आत्मा का खून करना समझा। मैं सदा की भाँति गतवर्ष भी अपने गाँव में दशहरे की छुट्टियों का आनन्द ले रहा था। अपनी एक सप्ताह की छुट्टियाँ सानन्द बिताने के बाद मुझे अपने गाँव बड़ला (होशियारपुर) से सरदारशहर वापस आना था। मेरे साथ ही मेरे एक निकटतम साथी श्री जरनैलसिंहजी को भी सरदारशहर के लिए प्रस्थान करना था। अभी तैयार होकर घर से बाहर निकले ही थे कि एक काले रंग की बिल्ली दायीं ओर से भागती हुई हमारा मार्ग काट कर बायीं ओर चली गई। पिताजी जो कि हमें कुछ दूर मोटर स्टैण्ड तक पहुँचाने जा रहे थे, तुरन्त बोल उठे : 'मैं अब तुम्हें गोपी दादा की अनुमति लिये बिना जाने नहीं' दूँगा। मैंने पिताजी को काफ़ी समझाया, परन्तु अब उनके विचारों को बदलना कोई आसान कार्य नहीं था। जब पिताजी ने किसी दशा में भी मुझे प्रस्थान करने की आज्ञा देने से साफ-साफ इन्कार कर दिया, तो हम गोपी दादा के पास यह आशा लेकर पहुँचे कि शायद वह ही अपने विरासत में मिले शुभ-शकुन सम्बन्धी एक्ट की किसी विशेष धारा के अनुसार हमारे प्रस्थान को शुभ घोषित कर दें। परन्तु गोपी दादा से यह आशा रखना हमें मूर्खतामात्र ही सिद्ध हुआ। गोपी दादा ने अपने शब्दों पर बल देते हुए साफ-साफ कह दिया कि इनका आज और कल दोनों दिन प्रस्थान करना निसन्देह किसी भयंकर आपत्ति की सूचना देगा। इसलिए इन्हें परसों से पहले भेजना वास्तव में इनके जीवन से खिलवाड़ करना होगा। परन्तु यदि ये परसों मंगलवार को प्रस्थान करेंगे, तो इनके सिर पर देर से मंडराने वाले राहु और शनि जैसे भयंकर ग्रह टल जायेंगे और इनकी उस दिन की यात्रा अत्यन्त मंगलमयी होगी।

मेरे मित्र श्री जरनैलसिंह जी को किसी विशेष कार्यवश अगले दिन ही सरदारशहर पहुँचना था। इसलिए वह तो घर से उसी दिन प्रस्थान करके दूसरे दिन सकुशल सरदारशहर पहुँच गये। परन्तु मुझे पिताजी ने मंगलवार से पहले विदा नहीं किया। कुछ प्रतीक्षा के बाद आखिर वह दिन भी आ ही गया, जिस दिन प्रस्थान करने से मेरी मंगलमयी यात्रा की गोपी दादा पूरी गारण्टी ले रहे थे। मैंने निश्चित दिन के निश्चित समय पर अपनी सरदारशहर के लिए यात्रा आरम्भ की। मुझे अपने गाँव से लगभग पाँच मील दूर दातारपुर नामक शहर से मुकेरियाँ के लिए मोटर पकड़नी थी, क्योंकि वर्षा ऋतु में हमारे गाँव का दसुहा स्टेशन से सीधा सम्बन्ध नहीं रहता। इसका कारण वर्षा में दसुहा और मेरे गाँव के बीच मोटर का न चलना ही है। हमारे गाँव से दातारपुर तक लगभग पाँच मील बाँसों का जंगल है। उस जंगल को पार करके ही दातारपुर पहुँचा जा सकता है। जंगल क्या है, वास्तव में चीते तथा सुअरों इत्यादि अनेक जंगली खूँखार जानवरों का घर है। गाँव से दातारपुर जाने के लिए पैदल चलना पड़ता है, क्योंकि तंग जंगली मार्ग होने के कारण, कोई भी यातायात का साधन सम्भव नहीं हो सकता।

मैं अभी घर से चलकर जंगल में दो मील दूर ही आया हूँगा कि अचानक मुझे चीते की आवाज सुनाई दी, जो कि एकान्त वातावरण को चीरती हुई दूर तक पहाड़ियों में गूँजने लगी। बीहड़ जंगल में, बिल्कुल अकेला होने के कारण मेरा घबरा उठना कोई अधिक आश्चर्यजनक न था। परन्तु मैंने साहस नहीं छोड़ा और अपने लड़खड़ाते कदमों से ही आगे बढ़ता गया। चारों ओर जंगल की झाड़ियों में झाँकता हुआ, अभी मैं सौ गज आगे ही गया हूँगा कि अचानक मेरी निगाह एक चीते पर पड़ी। फिर क्या था, दिल बड़ी तेजी से धड़कने लगा और टाँगें भारी हो गईं। ऐसा होना भी कुछ स्वाभाविक ही था, क्योंकि जंगल में अपनी स्वतन्त्रता में मदमस्त खूँखार चीता देखने के बाद आदमी को साक्षात् मृत्यु ही दिखाई देती है और मृत्यु का डर आखिर किसको नहीं होता? इससे पहले इतना भयंकर चीता मैंने कहीं भी नहीं देखा था। चीते ने एक गाय मारकर, मेरे मार्ग के ठीक मध्य में डाल रखी थी। गाँव के अनुभवी शिकारियों से मैंने सुन रखा था कि जंगली चीता जब कभी भी अपने आहार पर होता है, उस समय यदि कोई भी आदमी वहाँ पहुँच जाय तो चीता मनुष्य पर हिंसक आक्रमण करने से कभी नहीं चूकता। घबराहट में खोया हुआ मेरा हृदय बार-बार गोपी दादा पर गालियों की बौछार कर रहा था। बार-बार मेरे मन में यही आ रहा था कि आज यदि गोपी दादा मुझे नजर आ जाएँ, तो अपने गाँव को सदा के लिए ऐसे झूठे

अपनी से निजात किया हूँ। घबराहट इस चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी कि मैं जहाँ था, वहीं का वहीं ही मूर्तिवत् खड़ा रह गया। चीते और मेरे बीच दूरी केवल सौ गज की थी।

मुझे देखते ही चीता बड़ी क्रोधभरी आवाज में दहाड़ा। चीते का दहाड़ना क्या था, एक प्रकार का विस्फोट था। मैं पहले तो इतना घबरा गया कि मुझे आत्म-सुरक्षा हेतु, पीछे की ओर भागने के अतिरिक्त और कोई भी मार्ग दिखाई नहीं दिया। परन्तु ऐसा करना भी, मैंने खतरे से खाली नहीं समझा। क्योंकि मैंने यह कई बार सुन रखा था कि भागते आदमी को देखकर चीते का साहस बढ़ जाता है और वह बड़े साहस से आदमी का पीछा करता है। ठीक उसी समय अपनी आत्म-रक्षा हेतु एक नया विचार मेरे दिमाग में बिजली के आवेग की तरह कौंध गया। मैंने बाँसों के कुछ सूखे पत्ते इकट्ठे किये, और दियासलाई से उनमें आग लगादी। थोड़ी देर में ही बाँसों के सूखे पत्ते, बारूद की तरह जलने लगे और उस भयंकर आग को देख, चीते को नौ दो ग्यारह होते देर न लगी। मैंने भगवान का हृदय से धन्यवाद किया और भागता हुआ दातारपुर पहुँचा। दातारपुर से मोटर में बैठकर मैं मुकेरियाँ पहुँचा। मुकेरियाँ पहुँचने पर, मैं बिना विलम्ब किये, सीधा रेलवे स्टेशन पर पहुँचा और लुधियाना का टिकट लेने के लिए बुकिंग की खिड़की पर खड़ा हो गया। बुकिंग खिड़की खुलते ही, जब मैंने अपने रेशमी कुर्ते की जेब में हाथ डाला, तो कुर्ते की जेब मेरा मजाक उड़ा रही थी। मेरे कुर्ते की जेब, दो सौ रुपयों समेत, मेरे किसी बहुत बड़े शुभ-चिन्तक ने मोटर में ही काट ली थी।

अब मेरे पास एक नया पैसा भी न था। शुभ-शकुन के शुभ मुहूर्त में चलने का यह दूसरा चमत्कार मेरे सामने था। कुछ देर दो सौ रुपये का गहरा दुःख हुआ और सोचा कि वापस गाँव चला जाये, परन्तु फिर न जाने क्यों मेरे लड़खड़ाते कदम सामने के प्लेटफार्म की ओर बढ़ गये। मैंने जालंधर तक अपनी यह दुर्भाग्यपूर्ण यात्रा बिना टिकट करने का निश्चय किया और गाड़ी के डिब्बे में बैठ गया। मुकेरियाँ से जालंधर तक की बिना टिकट की रेल यात्रा में, रेल अधिकारियों का डर मेरे दिमाग में भूत बनकर सवार रहा। न मालूम लोग जेब में पैसा होते हुए भी बिना टिकट गाड़ी में यात्रा कैसे करते हैं, क्योंकि मुकेरियाँ से जालंधर तक की, छोटी-सी यात्रा में मेरा जाने कितना खून केवल टी० टी० के डर ने स्याही-चूस बनकर सोख लिया। अनेक लम्बी-चौड़ी कल्पनाओं में गोते लगाता और गोपी दादा को बुरा भला कहता, मैं जालंधर भी पहुँच गया। जालंधर स्टेशन पर उतर कर, मैं रेलवे अधिकारियों की नजरों से बचता-बचाता, भागता-दौड़ता अपने सम्बन्धियों के

घर पहुँचा। वहाँ से अपनी आगामी यात्रा के लिए कुछ रुपये लिए और जालंधर स्टेशन से लुधियाना का टिकट लेकर गाड़ी में बैठ गया। लुधियाना से दुपहरी के लगभग एक बजे मुझे हिसार के लिए गाड़ी पकड़नी थी, परन्तु जालंधर से आने वाली गाड़ी के लेट हो जाने के कारण मैं लुधियाना एक बज कर दस मिनट पर पहुँचा। हिसार जाने वाली गाड़ी, मेरे पहुँचने से दस मिनट पहले ही जा चुकी थी। मुझे सरदारशहर दूसरे दिन ही अपनी ड्यूटी पर हाजिर होना था। लुधियाना से हिसार जाने के लिए इसके बाद केवल रात को गाड़ी मिलती थी, और उस रात की गाड़ी से यात्रा करके, मैं निश्चित समय पर अपनी ड्यूटी पर हाजिर नहीं हो सकता था। लुधियाना से यही दुपहरी की गाड़ी पकड़ने के लिए, मैंने दिन भर इतना लम्बा सफर किया था। कुछ सोच-विचार करके, मैंने जाखल तक मोटर द्वारा सफर करने का निश्चय किया, क्योंकि मुझे लुधियाना में ही किसी आदमी ने सलाह दी कि ऐसा करने से, मैं अपनी खोई हुई गाड़ी को, जाखल में पकड़ सकता हूँ। मोटर में मुझे उचित स्थान मिल गया और मेरे देखते ही देखते थोड़ी देर में ही मोटर हवा से बातें करने लगी। मोटर में भी अनेक उधेड़बुनों में खोया-खोया, अपने गाँव-वासियों पर गोपी दादा के कुप्रभाव को कोसता हुआ मैं जाखल पहुँचा।

जाखल पहुँचते ही मुझे पता चला कि जाखल से हिसार जाने वाली गाड़ी अभी पाँच मिनट पहले ही छूट चुकी है और जाखल और हिसार के बीच मोटर सर्विस नहीं है। यह सुनते ही, मुझे एक बार फिर निराशा के गहरे सागर में डुबकी लगानी पड़ी। क्योंकि अब समय पर सरदारशहर अपनी ड्यूटी पर हाजिर होना मुझे बिल्कुल असम्भव नजर आ रहा था। और यह एक के बाद एक आपत्ति मेरे हृदय में गोपी दादा के प्रति गहरी घृणा उत्पन्न कर रही थी। क्योंकि गाँव से प्रस्थान करते समय उन्होंने मेरी समस्त यात्रा के मंगलमयी होने की पूरी गारण्टी ले रखी थी। अब मेरे दिमाग में केवल एक बात बार-बार आ रही थी और वह यह कि किस प्रकार आज ही हिसार पहुँचा जाय। ठीक उसी समय किसी ने मुझे सम्बोधित करते हुए कहा, 'यदि आपको हिसार जाना है, तो सामने वाले ट्रकों के अड्डे पर चले जाइये। वहाँ से कोई न कोई ट्रक आपको अभी हिसार जाने के लिए मिल जायेगा।' निराशाओं के गहरे अन्धकार में डूबा हुआ होने के कारण, यह सन्देश मुझे मेरे नाम पर एक लाख रुपये की लाटरी खुलने से भी अधिक सुखप्रद प्रतीत हुआ। मैंने उसी समय ट्रकों के अड्डे पर आकर पूछताछ की। और मुझे पता चला कि एक ट्रक अभी हिसार जाने वाला है। ट्रक-ड्राइवर से

बातचीत करने पर, मुझे दस रुपये में, ट्रक के पिछले भाग में बैठने की अनुमति मिल गई। थोड़ी देर में ही ट्रक पूरी गति से हिसार की ओर चला दिया गया। ट्रक-ड्राइवर तथा उसका एक और साथी दोनों आगे की सीटों पर बैठे, शराब के नशे में चूर, कभी द्वापर और कभी त्रेतायुग के वासियों की बातें कर रहे थे।

रात के ८ बजे का समय था और ट्रक रात के अंधेरे को चीरता हुआ कुछ समय में जाखल से १० मील दूर हो गया। उसी समय मैंने ट्रक के आगे की सीटों पर बैठे दोनों ड्राइवरों को यह साफ-साफ कहते सुना, 'बाबू मालदार दिखाई देता है। पाँच-चार मिल आगे चलकर देखेंगे।' और फिर एक ज़ोर का कहकहा लगा कर प्रत्येक ने एक-एक बोतल अपने मुँह में उँडेल ली। यह सब अपने कानों से सुनने के बाद मुझे काटने पर शायद खून भी न निकलता। इस आपत्ति की घड़ी में ट्रक के पिछले भाग में बिल्कुल अकेला, बार-बार भगवान से इस मुसीबत में मेरी सहायता करने की प्रार्थना करने के अतिरिक्त मैं कर भी क्या सकता था? पास ही पड़ा मेरा अटैची केस शायद अपनी मूल-भाषा में मुझे यही कह रहा था कि गोपी दादा की शुभ-कामनाओं का चमत्कार अभी समाप्त नहीं हुआ है। इसलिए यह निष्क्रियता छोड़ इस आपत्ति से बच निकलने का उपाय सोचो अन्यथा……। ठीक उसी समय मैंने ट्रक से कूदना चाहा, परन्तु ट्रक हवा की गति नाप रहा था। न मालूम उसी समय उस परमपिता को मुझ पर दया आई या मेरे भाग्य की रेखाओं ने कोई नया मोड़ लिया, जिसके परिणामस्वरूप सामने से एक और ट्रक के आ जाने के कारण हमारे ट्रक-ड्राइवर को अपने ट्रक की गति मन्द करनी पड़ी। फिर क्या था, उस ट्रक की गति के मन्द होने में मैंने अपने हृदय की खोई हुई गति पाई और अपने नये जीवन की साक्षात् झलक देखी। इसलिए ट्रक की गति मन्द होते ही मैंने बिना किसी प्रकार की आहट किए अपनी अटैची को जमीन पर फेंक दिया और उसके तुरन्त बाद स्वयं भी उस चलते ट्रक से कूद गया। ट्रक के चलने की खड़खड़ाहट तथा शराब के गहरे नशे ने मेरे कूदने की आवाज ड्राइवर तथा उसके साथी के कानों तक पहुँचने नहीं दी। चलती गाड़ी से छलांग लगाने के कारण मेरे दोनों बाजू तथा टाँगें घायल हो चुकी थीं, परन्तु उनकी चिन्ता करने का यह समय नहीं था। इसलिए अपनी अटैची सिर पर रख कर भागता हुआ १० मील की लम्बी यात्रा तय करके वापस जाखल पहुँचा। दिल की धड़कन बहुत तेज हो उठी थी। साँस पर साँस आने के कारण प्राण-पखेरू लगभग उड़ने ही वाले थे। परन्तु भगवान की अपार कृपा से जाखल पहुँचने पर कुछ सुख की साँस मिली और

वहाँ से रात के १२ बजे की गाड़ी में सवार होकर हिसार के मार्ग से दूसरे दिन सरदारशहर पहुंचा ।

आज यह आश्चर्यजनक और भयभीत यात्रा किये मुझे एक वर्ष बीत गया है, परन्तु मेरे घुटनों और बाजुओं पर लगी गहरी चोटों के निशान अभी भी मुझे यह साफ-साफ चेतावनी दे रहे हैं कि शुभ या अशुभ शकुन केवल मनुष्य के अन्धविश्वासों की उपज है और शुभ-मुहूर्त कभी भी मनुष्य के जीवन मे होने वाली आगामी अशुभ घटनाओं को टालने की गारण्टी नहीं कर सकते। घटना चाहे अच्छी हो या बुरी, वह अपने निश्चित् समय और निश्चित् स्थान पर, बगैर गोपी दादा से पूछे, यदि घटित होती है, तो होगी ही ।

एक अजाने आचार्य

नागचन्द्र जैन

हिन्दी साहित्य-संसार में अनेक टीकाकार व कृष्णभक्त कवियों ने सरस धारा प्रवाहित की है, जिसमें कई विज्ञ पुरुषों को अवगाहन करने का, रसास्वादन का पावन अवसर भी प्राप्त हुआ है। इसी काल के परिपक्व, मौन साधक आचार्य कवि श्री हरिचरणदास भी अपार साहित्य-कोष प्रणयन में लीन थे। इन्होंने अपने अथक श्रम, सतत् प्रयास व पाण्डित्यपूर्ण प्रतिभा से साहित्य-जगत की अमिट सेवा की है। इनके साहित्य पर धूल की परत जमी जा रही थी, किसी भी जौहरी ने इन हीरों को गले के हार में नहीं पिरोया। सौभाग्य का विषय है कि आज इनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर कुछ चिन्तन करने के पुनीत क्षण मिले हैं।

श्री हरिचरणदास अपने परिचय के बारे में स्वयं जागरूक रहे हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रसंगवश अपना व अपने परिवार का सुन्दर परिचय प्रस्तुत किया है। कविप्रिया की टीका में कवि ने सुस्पष्ट परिचय इस प्रकार दिया है :

राजत सुवे बिहार में है सारनि सरकार।
सालग्रामी सरित सरजू सोभ अपार।
सालग्रामी सरजू जहां मिली गंग सो आप।
अंतराल में देस सो हरि कवि को सरसाय।
परगन्ना गोआ तहां गांव चैनपुर नाम।
गंगा सो उत्तर तरफ तहं हरिकवि को धाम।
सरजू पारी द्विज सरस वासुदेव श्रीमान्।
ताको सुत श्री रामधन ताको सुत हरि जान।
नवापार में ग्राम है बढ़िया अभिजनवास।
विश्वसेन कुल भूप वर करत राज रवि भास।

> मारवाड़ में कृष्णगढ़ तँह निति सुकविनि थान।
> भूप बहादुर राज है बिरदसिंह युवराज।
> राधा तुलसी हरिचरन हरि कवि चित्त लगाय।
> तँह कवि प्रिया भरन यह टीका बनाय।
> सत्रह सो छासठ मही कवि को जन्म विचारि।
> कठिन ग्रन्थ सुधी कियो ले हैं सुकवि निहारि।
> संवत अठारह सो बिन पैंतिस अधि के लेखि।
> साका सत्रण सो जबे किये ग्रन्थ हरि देखि।
> माघ मास तिथि पंचमी शुक्ला कवि को वार।
> हरि कवि कृति सों प्रीत है राधा नन्द कुमार।
> पुरोहित श्री नन्द के पुनि साडिल्य महान्।
> हैं तिनके हम गोत में मोहन सो जजमान।

यह प्रति कवि की रचना के दो वर्ष बाद की है, अतः इसकी प्रामाणिकता व सत्यता में संदेह नही किया जा सकता। इन पंक्तियों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कवि का जन्म माघ शुक्ला पचमी संवत् १७६६ में विहार सूबे के चैनपुर ग्राम में हुआ। वासुदेव इनके दादा का नाम था एव रामघन इनके पिता थे। आप साण्डिल्य गोत्रीय सरयूपारीण ब्राह्मण थे। कृष्णगढ़ के राजा बहादुरसिंह के राज्यकाल में कृष्णगढ में ही आकर निवास करने लगे थे। केशव की भाँति आपको भी संस्कृत-शिक्षा पैतृक धरोहर के रूप मे प्राप्त हुई थी।

कवि ने अपने गुरु का परिचय भी इस प्रकार दिया है .

> श्री सुखदेव तने तहा चक्रपानि गुनपानि।
> हरिकवि को मातुल वहै वहै सुविद्यादानि॥

फलतः इनके गुरु शुकदेव के पुत्र चक्रपानि थे। वे ही इनके मातुल भी थे। कवि ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है, उनको हम चार भागों में विभक्त करते हैं :

१. टीका-साहित्य, २. कोष-साहित्य, ३. अलंकार-भाषा व रस-सम्बन्धी साहित्य, ४. स्वरचित भक्तिपूर्ण साहित्य।

टीका-साहित्य के अन्तर्गत केशव की कविप्रिया की सरस टीका, जसवन्तसिंह की भाषा-भूषण की टीका, बिहारी सतसई की हरि-प्रकाशी टीका आदि सम्मिलित हैं।

कोष-साहित्य के अन्तर्गत वृहत् कर्णाभरण, लघु कर्णाभरण व श्रुतिभूषण आदि वृहत् सुन्दर कोष की रचना भी की है।

अलंकार-भाषा व रस-सम्बन्धी साहित्य के अन्तर्गत आपने रस-दर्पण, शृंगार-दर्पण, भाषा-दीपिका व काव्य-प्रकाश आदि महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। इनके माध्यम से अलंकारिक जैसे जटिल विषय को सरल, सुबोध व सुग्राह्य के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्वनिर्मित दोहों व अन्य छन्दों में सरलता के साथ काव्य के सभी अंगों का विश्लेषण किया है।

स्वरचित ग्रंथों में इनके सभाप्रकाश, कविवल्लभ, मोहनलीला, भागवत-प्रकाश व रामायणसार को स्थान मिलता है। इन ग्रंथों में कवि की विद्वता कूट-कूट कर भरी हुई है। मोहनलीला व भागवतप्रकाश ग्रंथों से यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि आप कृष्णभक्त कवि थे। अन्यत्र सभी उदाहरणों में भी कृष्णभक्तिपरक काव्य के दर्शन होते हैं।

फ़ारसी भाषा में आपका एक ग्रंथ हरिचातुरी नाम से प्रकाशित हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि आपको ब्रज-भाषा व संस्कृत-भाषा के साथ-साथ फ़ारसी पर भी अधिकार था।

आपकी विद्वता हर क्षेत्र में अपूर्व एवं गहरी थी। आपकी रचनाएँ सुमधुर एवं आनन्द का अमृत स्रोत प्रवाहित करने वाली हैं। [illegible] कवि वल्लभ का प्रथम कवित्त जो मोहनलीला नाम स्वरचित ग्रंथ में दिया गया है, जिसमें रसात्मकाभिव्यक्ति अनूठी है, प्रस्तुत है—

दारिद विदार्यो इन लाखन करोर को ।
दया उर भावे दीन दुख को बहावें हरि,
ऐसो ही सुभाव भलो परयो याही ओर को ।
चकस्यो है सदन सुरेस कैसो,
धन दे बढायो कान्ह कीनो निज गोर को ।
दीनें जाके हाथ की नवो नवो नर खावें,
कोई चांवर चवात कोई चीथरा के छोर को ।

भक्त-हृदय ने श्रीकृष्ण की क्रीड़ास्थली का चित्रण भी सरस रूप मे प्रस्तुत किया है । प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण व मानवीयकरण अद्वितीय हो उठा है । धन्य है कवि की लेखनी ....

कूजत कोकिल के गन कुज मे मत्त मधुप व्रत गुज सुहायो ।
चारलता लपटी तरु सो सु किधो तरुनी पिय कठ लगायो ।
धार लसे जमना जल की चऊ ओर विचारई है चित आयो ।
नीलम को रचि हार मनो करतार ले श्रीवन को पहरायो ।

आपके द्वारा रचित आराध्य-देव का मनमोहक रूप-चित्रण अत्यन्त हृदयग्राही प्रतीत होता है । शब्द-चयन अनूठा एव नृत्य करता-सा प्रतीत होता है । भाषा में कोमलता व गगा के निर्मल जल के समान वाणी प्रवाहित होना प्रस्तुत सवैये से स्वयसिद्ध है

पुग मजुल कज लिये कर मे छबि वजुल कुजन विकसी है ।
खजन के मद-भजन लोचन अग अनग कला सरसी है ।
आनदकद है नद को नदन चदन बदन बैंदी लसी है ।
मदहि मद मुकुद हँसे अरविंद में कुद कली दरसी है ।

साहित्य के सर्व अगों पर उन्होंने सभाप्रकाश, कविवल्लभ व भाषा-भूषण की टीका के उदाहरण देकर जो मडन-खडन, तर्क-वितर्क प्रस्तुत किये हैं, वे अपने ढग के एक है । कवि ने केसव, बिहारी, सुन्दर, घनानन्द, मडन, मतिराम के पद्यबद्ध काव्यांशो को लक्षण-ग्रंथ के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत कर जो आलोचना की है, वही हिन्दी की आलोचना का प्रारम्भ है ।

श्री हरिचरणदास ने साहित्य के उपयोगी, पर उपेक्षित विषयों पर भगीरथी श्रम किया है । रीतिकालीन विद्वानों ने कोष-निर्माण की ओर विशेष ध्यान नही दिया है । हरि कवि ने इस ओर ध्यान दिया और बहुलार्थी

शब्दों का चारु-चयन कर अलग कोष का प्रणयन किया है। यह प्रयास स्तुत्य है। लघुकर्णाभरण व वृहत् कर्णाभरण में शब्दोत्पत्ति के साथ विभिन्न अर्थ सहित सरस-उद्धरण प्रस्तुत कर विषय को सरल रूप में प्रतिपादित किया है।

कवि ने संस्कृत, वृज-भाषा, फारसी के अतिरिक्त डिंगल-भाषा में भी काव्य सरिता को प्रवाहित किया है। उदाहरणार्थ भागवत्प्रकाश के एक छप्पय की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :

> क्रुद्ध मुग्ध दल देत सुद्ध नहिं बुद्धि विचारिय।
> जुद्ध रुद्ध करि प्रबल महा अनिरुद्ध बकारिय।
> कोटि कटक को ठाठ घटा सम कृष्ण जु लीनउ।
> रिपु प्रचंड सुविहंडि मुंडत हिं दंड जु दीनउ।

× × × ×

कवि ने साहित्य के सभी विषयों पर अधिकार के साथ लिखा है। आपकी रचनाओं में सरसता, गति व अद्वितीय प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इन्होंने साहित्य की जो सेवा की है, वह चिरस्मरणीय है। उनके योग्य शिष्यों में श्री हीरालाल कवि, कृष्णगढ़ वासी व वृन्द महाकवि के प्रपौत्र श्री दौलतराय प्रसिद्ध हैं।

यह साधु-कवि माँ भारती के पावन युगल-चरणों में श्रद्धा व भावना से पूरित पुष्प को आजीवन चढ़ाता रहा है एवं राधाकृष्ण के पावन पद-पद्मों में अपनी अर्चना का अर्घ्य निष्काम भाव से समर्पित करता रहा है।

●

संस्कृति का मूल स्वरूप

●

डॉ. नारायणदत्त श्रीमाली

संस्कृति शब्द स्वयं में बहुत ही व्यापक है। प्राय इस शब्द का प्रयोग सुरुचि और परिष्कृत आचार-व्यवहार के अर्थ में किया जाता है, परन्तु सुरुचि एवं परिष्कृत के मूर्त प्रतीकों के लिए भी इसका प्रयोग होता है। यूनानियों की राजनीतिक और शैक्षणिक पद्धतियाँ और रोमियों की विधि-संहिता उनकी संस्कृतियों के सबसे महत्वपूर्ण अंग समझे जाते रहे हैं। और कभी-कभी यह 'संस्कृति' शब्द और व्यापक अमूर्त अर्थ का द्योतन करता है, जीवन के चरम साध्यों और मानों की एक सम्पूर्ण व्यवस्था का। स्पष्टतः संस्कृति की सीमा विस्तृत है, उसके अन्तर्गत मानव के बौद्धिक तथा कलात्मक विकास से सम्बन्धित सभी विषय आ जाते हैं।

मानव मुख्यतः दो प्रयोजनों में सीमित रहता है। प्रथम, मानव का वह स्वार्थ है, जिसका सम्बन्ध उसके अस्तित्व एवं सुरक्षा से है। वह विश्व में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है, और दूसरे, मानव की आकांक्षा रहती है, कि वह अपने अनुभवों को सम्बद्ध रूप में एकत्र कर बौद्धिक समष्टि का रूप दे दें। फलतः वह स्थूल उपयोगिताओं की ओर से उदासीन रह कर भी अधिकाधिक अपने आन्तरिक अस्तित्व को व्यापक रूप देने की ओर सचेष्ट रहता है।

सृजनशील प्राणी होने के फलस्वरूप मानव विश्व में बिखरे अनन्त उपयोगी पदार्थों में से अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ सृजन करने में संलग्न रहता है। यह मानवीय-सृजनशीलता दो रूपों में उद्भूत होती है, एक तो बाह्य वास्तविकता और दूसरी आन्तरिक-जीवन में व्याप्त वास्तविकता। इन दोनों का अन्तर स्पष्ट प्रतीत होता है। बाह्य वास्तविकता से प्रथित होने पर इस सृजनशीलता का लक्ष्य होता है—उपयोगिता, और आन्तरिक-जीवन में

व्यवहृत होने पर इसका लक्ष्य होता है—मनुष्य के आन्तरिक-जीवन का प्रसा
उपयोगिता के धरातल पर क्रियाशील होती हुई मानवीय-सृजनशीलता औ
गिक वस्तुक्रमों को उत्पन्न करती है, जो सभ्यता का एक आवश्यक अंग है
मानवीय-जीवन की निरुपयोगी किन्तु अर्थवती सम्भावनाओं का अन्वेषण कर
हुई, वह संस्कृति की सृष्टि करती है, जिसकी अभिव्यक्ति कला तथा चिन्तन
कृतियों में होती हैं। मानव अपनी आत्मिक-अनुभूतियों को प्रकट करने के लि
उत्कंठित रहता है, और इसके लिए वह प्रतीकों का सहारा लेता है। संस्कृ
का उद्गम है मानव का सृजनात्मक अनुचिन्तन, और इसका निर्माण उ
क्रियाओं के मूल में है, जिनके द्वारा मानव यथार्थ की सार्थक छवियों
सम्बन्धित चेतन प्राप्त करता है।

संस्कृति का निर्माण मानवात्मा अपने ही आन्तरिक तत्त्वों से करती है। जैसे मकड़ी अपने ही आन्तरिक तत्त्वों से एक जाला बुन लेती है, ठीक उसी प्रकार मानवात्मा अपने आन्तरिक भाव-तत्त्वों से ही संस्कृति का निर्माण कर लेती है। इन भाव-तत्त्वों से अनुप्राणित मानव सर्वोपरि सत्ता की प्रेरणा से, अथवा ज्ञानदान या सहजवृत्ति से उच्चतर मूल्यों या विचारों की झाँकी पा लेता है, उनके विशेष सामाजिक परिवेश में यही दृष्टि एक अनात्मपरक मानसिक रूप ले लेती है और निकाय का आदर्श बन जाती है। यही जब विशेष सूक्ष्म और स्थूल रूपों में परिणत होती है, तो उनकी समष्टि से संस्कृति का निर्माण होता है। दिनकर के शब्दों में, अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं, वे भी हमारी संस्कृति के समष्टि रूप में अंग बन जाते हैं।

मानव स्वभावानुसार अपने अस्तित्व को व्यापक एवं समृद्ध बनाने के लिए विभिन्न प्रकार की क्रियाओं से अपने को अभिव्यक्त करता रहता है। मानव के वे महत्वपूर्ण क्षण, जो मिलकर उसे उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करने में योग देते हैं, अपने आप में महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। मानव अपने आपको बाह्य वस्तुओं से एकाकार करता है, जिसके फलस्वरूप सभ्य जीवन का निर्माण होता है। सभ्यता जहाँ मानव की कतिपय क्रियाओं से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का नाम है, वहाँ संस्कृति मानवीय-क्रियाओं का कार्य न होकर स्वयमेव मूलभूत क्रियाएँ ही हैं। सांस्कृतिक जीवन वह जीवन कहा जा सकता है, जिसमें हम बाह्य वस्तुओं से ही एकाकार न होकर, अपने चारों ओर व्याप्त परिवेश से ही सन्तुष्ट न होकर, अपनी चेतना को पूरे ब्रह्माण्ड से तादात्म्य कराने को उत्सुक रहते हैं। वह भौतिक एवं जीवन-सुलभ वस्तुओं एवं वास्तविकताओं से ही सम्बन्ध न रखते हुए कुछ ऐसी आवश्यकताओं से भी

सम्बन्ध रखता है—जो किसी भी प्रकार से उसकी पशु-सुलभ आवश्यकताओं की पूर्ण पूर्ति नहीं करती—सांस्कृतिक, जीवन कहा जा सकता है। मनुष्य केवल उपयोगिता की परिधि में ही जीवित नहीं रहता, अपितु उसमें कुछ ऐसी रुचियाँ भी संगुफित हैं, जो उपयोगिता का अतिक्रमण करती हैं। वह बौद्धिक जिज्ञासा तथा सौन्दर्य की भूख से भी पीड़ित होता है, और इस प्रकार वह एक सांस्कृतिक प्राणी के रूप में जन्म लेता है।

मानव के सामने दो प्रकार की वस्तुएँ प्रत्यक्ष रहती हैं। पहली भौतिक वस्तुएँ और दूसरी सामाजिक तथा सांस्कृतिक वस्तुएँ। भौतिक वस्तुएँ वे हैं, जो मानव को सुख-सुविधाएँ प्रदान करती हैं यथा मोटर, रेडियो, सोफासेट आदि। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी वस्तुएँ भी होती हैं जो मानव की भौतिक तृप्ति न करते हुए भी मन को अनिर्वचनीय शान्ति प्रदान करती हैं। भक्ति, दर्शन, परोपकार, प्रेम और सौन्दर्य आदि ऐसी ही भावनाएँ या वस्तुएँ हैं। पहले प्रकार की वस्तुओं की प्राप्ति से मानव अधिकाधिक सभ्य बनता है, तो दूसरी प्रकार की वस्तुओं के सञ्चय से अधिकाधिक सांस्कृतिक।

मानव-जीवन का अधिकांश समय मौलिक-वृत्तियों यथा क्षुधा, वस्त्र, आवास आदि से मुक्ति पाने में ही व्यतीत हो जाता है। मानव ने जब प्रकृति पर इतनी विजय प्राप्त कर ली कि वह सुगमतापूर्वक अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सके, तभी संस्कृति का उदय हुआ। क्योंकि जब तक मानव अपनी मौलिक-वृत्तियों एवं आवश्यकताओं की पूर्ति में संलग्न रहता है, तब तक वह सांस्कृतिक तत्त्वों की ओर सोचने को प्रेरित ही नहीं होता है, परन्तु फिर भी सभ्यता के निर्माण एवं सांस्कृतिक-जीवन के उदय को हम अलग-अलग करके नहीं देख सकते। संस्कृति और सभ्यता की प्रगति साधारणतया एक साथ होती है, और दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव भी पड़ता है। मानव उपयोगी एवं निरुपयोगी क्रियाओं को एक साथ करता रहता है। वह फसल काटता है, तो साथ-साथ गीत भी गुनगुनाता रहता है। मिट्टी का बर्तन बनाता है, तो उस पर भी कुछ न कुछ चित्रकारी कर ही लेता है। और यह सौन्दर्य की प्रवृत्ति आदिमानव से आज तक निरन्तर रूप से चली आ रही है। फलतः मानव-जीवन में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उपयोगी एवं सांस्कृतिक क्रियाएँ एक दूसरे में मिश्रित होती हुई चलती रहती हैं। जो क्रियाएं मानव को अर्थवती छवियों से सम्बन्धित करने में सहयोग प्रदान करती हैं, वे क्रियाएँ एवं वृत्तियाँ सांस्कृतिक कही जा सकती हैं।

भारतीय-दर्शन में दो प्रकार के मूल्य माने हैं। १—परम मूल्य और

मानवीय व्यक्तित्व को जानने अथवा उनकी अनुभूति करने की क्रियाओं से है।

मुख्यतः संस्कृति का सम्बन्ध बाह्य भौतिक वस्तुओं से न होकर आन्तरिक चित्त-वृत्तियों से होता है। भारतीय-दर्शन सदैव से आत्म-केन्द्रित रहा है। हमारी परम्परा है, मूल्य-केन्द्रित होना न कि अस्तित्व-केन्द्रित होना, जैसा कि पश्चिम की परम्परा है। यही कारण है कि जहाँ भारतीय-दार्शनिक मानव को स्थायी शान्ति प्रदान करने के हेतु 'आत्मा' में साक्षात्कार करते रहे, और एक उच्च संस्कृति को जन्म दे सके, वहाँ पश्चिमवासी अस्तित्व-केन्द्रित बने रहे एवं उन्होंने बुद्धि-ग्राह्य पक्ष का विश्लेषण करते हुए उच्च सभ्यता का प्रादुर्भाव किया। पूर्व मुख्यतः इसके लिए चिन्तित रहा है कि व्यक्ति के दुःखों को कैसे दूर किया जाय ? उसे कैसे सुख में परिवर्तित किया जाय ? उसने बाह्य परिवेश की विशेष चिन्ता नहीं की। भारतीय चिन्तकों ने अपनी पूर्ण शक्ति उन तत्वों के अनुसंधान में लगा दी, जो वैयक्तिक चेतना के सुख से सम्बन्धित हैं। उन्होंने यही रहस्य ज्ञात करने का प्रयत्न किया कि मानवीय वैयक्तिक चेतना का सांस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक परिष्कार कैसे हो ? इसके विपरीत पाश्चात्य विद्वान भौतिक सुधारों के परिष्कार में दत्तचित्त रहे। स्पष्टतः हमारी संस्कृति का सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं से न होकर आन्तरिक चित्तवृत्तियों से ही मुख्यतः रहा है। संस्कृति हमारे आन्तरिक गुणों का समूह है, एक प्रेरक शक्ति है। वह हमारे सामाजिक व्यवहारों को निश्चित करती है, हमारे साहित्य और उसकी भाषा को बनाती है, हमारी संस्थाओं को जन्म देती है। संस्कृति बतलाती है कि हम अपनी सूक्ष्म चित्तवृत्तियों का कितना विकास कर पाये हैं, पशु-जीवन से हम कितना ऊँचा उठ सके हैं ? संस्कृति किसी संकीर्ण परिधि में ग्रस्त नहीं, अपितु यह एक अखिल जागतिक भाव और सार्वभौम तत्त्व है। उसके लक्षण अखिल जागतिक है, उसके मूल तत्त्व भी समस्त संसार के सभी देशों में समान हैं।

संस्कृति का कल्पना मात्र से ही सम्बन्ध नहीं होता, अपितु मानव के यथार्थ जीवन से भी उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। क्योंकि मानव मात्र अपने चतुर्दिक फैले हुए परिवेश से ही संतुष्ट नहीं रहता, अपितु वह प्रयत्नपूर्वक अपने आपको विश्व की समग्रता से सम्बन्धित कर जीना चाहता है। संस्कृत व्यक्ति किसी पदार्थ या भावना को तुच्छ नहीं समझता, अपितु वह उस तुच्छ एवं नगण्य वस्तु को भी ऐसे दृष्टिकोण से देखता है, जिससे वह देदीप्यमान हो उठती है। वह अपनी आवश्यकताओं को ऐसी प्रक्रिया से पूर्ण करना चाहता है, जिसके कारण वे पूर्ति के साथ-साथ उच्च सौन्दर्य एवं शिवम् से भी मण्डित हो जायें। उदाहरणार्थ एक साधारण मानव जहाँ नारी को जैवी

आवश्यकता ही समझता है, वहाँ संस्कृत व्यक्ति उसमें समस्त माधुर्य, कोमलता, श्रद्धा एवं सौन्दर्य के उच्चतम दर्शन करता है, वह उसे मधुर रहस्य से ओत-प्रोत कर देता है। संस्कृत व्यक्ति जीवन की तुच्छ से तुच्छ वस्तु को भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के परिपार्श्व में देखता है। निष्कर्षतः संस्कृति मानव-जीवन को सशक्त एवं शक्तिपूर्ण चेतना है, जो उपयोगी न होती हुए भी अर्थवान होकर मानव को वस्तुजगत की परतंत्रता से मुक्त करती हुई उन मूल्यों के जगत में प्रवेश कराती है, जो सम्पूर्ण मानवता को साथ लिये चलते हैं एवं मानवता की समृद्धि के लिए मुक्ति तथा स्वतंत्रता का साम्राज्य उपस्थित करती है। केवल उन वस्तुओं के लिए चिन्तित रहना, जिनका एकमात्र उपयोग हमारी भौतिक आवश्यकताओं की प्रपूर्ति करना है, उच्चकोटि के मनुष्यों के लिए उचित नहीं। उच्चतर कोटि के मनुष्य प्रायः ऐसे कार्यों में लगे रहते हैं, जो उपयोगी न होते हुए भी आत्म-प्रसार एवं अस्तित्व को विस्तृत एवं समृद्ध बनाने वाले हैं। मनुष्य की भव्य और दिव्य क्रियाएँ ही संस्कृति के निर्माण में सहायक होती हैं। जब मनुष्य अपने वैयक्तिक स्वार्थों, राग-द्वेषों से ऊपर उठकर समस्त विश्व का साक्षात्कार अपनी आत्मा में करता है, तभी संस्कृति में समृद्धता आती है, और ऐसा व्यक्ति ही विश्व को भय से मुक्त कर परस्पर प्रेम, सौहार्द तथा बन्धुत्व का वातावरण उपस्थित कर सकता है। विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व-कल्याण संस्कृति की मूल धारणाओं में से है, जिनमें मानव अस्तित्व की निश्चिन्तता एवं सार्थकता है।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी : संस्मरण

जी०पी० आजाद

धोती और कुरता पहने, हाथ खाली नहीं, कभी उसमें छाता तो कभी बेंत। गौरवर्ण। कद को नाटा कहें तो कैसे, किन्तु लम्बा भी नहीं कह सकते। पम्प-शू नहीं, किन्तु उसी शक्ल का साधारण-सा जूता, शान्ति के साथ आगे बढ़ते हुए नपे तुले कदम और पूर्ण विश्वास के साथ बैठकर मुस्कराते हुए उस चहरे को कनखलवासी अक्सर देखा करते हैं। बड़े आदर और सम्मान से उनका अभिवादन करते हैं। सुडौल लम्बी खिचड़ी मूछों के मध्य मुक्तहास करते हुए, जब उनके मुख-मण्डल पर आरोह-अवरोहपूर्ण रेखाएँ खिचती हैं, तो लगता है वे मोहिनीमन्त्र पढ़ रहे हैं। सच, जब इस प्रकार वे मुक्त होकर हँसते हैं, तो उसमें किसी के भोले निष्पाप भाव पर स्नेहपूर्ण क्षमा होती है अथवा किसी की दम्भ-पूर्ण प्रगल्भ उक्ति का उपहास। वर्तमान की अपेक्षा उन्हें अतीत के आदर्शों से विशेष प्रेरणा है। उनके लिए भारतीयता से विलग किसी आदर्श की कल्पना तो असम्भव ही है। अपने गौरव और आत्म-सम्मान की प्रतिष्ठा वे इसी में सर्वाधिक समझते हैं कि हिन्दी के विगत सपूतों की परम्पराओं और आदर्शों को जीवित रख सकें। हिन्दी की प्रतिष्ठा, उसका सम्मान और गौरव, उनका अपना सम्मान और गौरव है। हिन्दी से विलग, सम्भव है, वे अपना अस्तित्व ही नहीं मानते। जिस प्रकार किसी के व्यक्तित्व पर कालुष्य का आरोप प्रतिकार के योग्य होता है, उसी प्रकार हिन्दी के प्रति किसी का भी कोई लाछन उन्हें असह्य और अस्वीकार्य है। अपने व्यक्तित्व की पूर्णता के प्रति जिस विश्वास के साथ कोई आत्म-सम्मानित व्यक्ति अपना दावा करता है, हिन्दी भाषा की पूर्णता के प्रति वे अधिकारपूर्ण दावा करते हैं। लगता है, हिन्दी भाषा का उन्होंने गहन अध्ययन किया है, उसके अग-प्रत्यंग और रग-रग का उन्हें ज्ञान और अनुभव है। कहाँ, कब और किस प्रकार उसमे विकार उत्पन्न किये गये, वे पनपे और उनका विस्तार किया गया, इसका

पूरा इतिहास नहीं आता है। जैसे 'भूँगफली' को 'मूँगफली' कहते हैं। मूँगफली शब्द नहीं है, जो शब्द है उसे सम्भवतः पूर्वकाल में 'भूमिफली' कहते होंगे। उसमें धीरे-धीरे मुख-सौकर्य के कारण भूम-फली और भूमफली से मूँगफली बनी। लेकिन उसे सब लोग मूँगफली कहने लगे, यह गलत है। मूँगफली तो मूँग की फली होती है, जिसमें मूँग निकलते हैं। इसी प्रकार हिन्दी की मौलिकता और ग्रहणशीलता के सम्बन्ध में उनका जितना ज्ञान है, सम्भव है किन्हीं लोगों को ही कभी रहा हो।

यह पढ़ कर मन में सम्भव है, यह भाव उठे कि वह कौन व्यक्ति है? किन्तु उत्तर अधिक कठिन नहीं है। जहाँ कनखल का प्रसंग है, वहाँ आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का नाम स्वतः प्रतिध्वनित होता है। वाजपेयीजी का नाम हिन्दी के कथा-पाठक और सहानुभूति रखने वाले तत्काल पहिचान पायें, यह नहीं कह सकता। उनके सामने वाजपेयी जी का क्या स्थान है, यह कह सकना कठिन है। क्योंकि जो उनके व्यक्तित्व से अपरिचित हो, उसके सामने उनके व्यक्तित्व निर्धारण का प्रश्न उठता ही नहीं। किन्तु जो कभी-कभी साहित्यिक लेख या चुटकियाँ हिन्दुस्तान साप्ताहिक में पढ़ते रहते हैं, वे ब्लैक फ़ेस टाइप में छपे आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के नाम से अवश्य परिचित रहे होंगे। फिर भी ये पाठक वाजपेयीजी को हिन्दी भाषा और व्याकरण का ज्ञाता मात्र ही समझते होंगे। इन सबसे परे एक ऐसा वर्ग है, जो वाजपेयीजी के व्यक्तित्व से अधिक निकटता रखता है। इस श्रेणी के लोग भली प्रकार जानते होंगे कि हिन्दी के लिए सन्त वाजपेयीजी की कितनी भीषण तपश्चर्या और कितना महान् त्याग है! उनकी हिन्दी-उपासना राष्ट्र के प्रति कल्याण की एक महान् कामना है।

वाजपेयीजी केवल हिन्दी-भक्त ही हों, ऐसी बात नहीं है। देश की स्वाधीनता के प्रति भी उनके मन में वैसी ही लगन थी, जैसी देश के अन्य नेताओं में। राष्ट्रीय नेताओं से उनका अनवरत सम्बन्ध रहा। देश की स्वाधीनता के साथ ही देश में हिन्दी की सेवा और उसकी उन्नति उनके प्रधान लक्ष्य थे। भारतेन्दु की परम्परा का वे निर्वाह करते रहना चाहते हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की साधना को सम्बल मानकर बढ़ना चाहते हैं। अतः महामना स्व० मदनमोहन मालवीय एवं राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे ज्योतिर्पिण्डों का सतत प्रकाश पाकर वे हिन्दी-सेवा के लिए प्राणप्रण से लगे-हुए हैं। कालगति के साथ इस भौतिक जगत से वे ज्योतिर्पिण्ड एक-एक कर विलीन हुए, स्वराज्य की कल्पना साकार हो गई और हिन्दी भीषण संघर्षों के

पश्चात् देश की विधान निर्मात्री सभा द्वारा राजभाषा स्थान पर चुन ली गई; किन्तु वह आसीन अब भी नहीं हो सकी। इस कष्टदायक तथ्य की पीड़ा वाजपेयीजी के मन में सदैव शूल की भाँति कसकती रहती है। ऐसी ही स्थिति के कारण उनका पीडापूर्ण मन कराह कर वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था के प्रति भी सदिग्ध हो जाता है, वे उदासीन हो उठते हैं। हिन्दी की शासन के द्वारा जो उपेक्षा की जाती रही है, वे उसे शासन की एक नीति मात्र मान बैठे हैं और उसका सम्बन्ध अन्य घटनाओं के साथ भी वैसे ही स्थापित करते रहते हैं। वे कहते हैं 'जहाँ सुभाष और सावरकर जैसे व्यक्तियो की उपेक्षा कर दी जाती है, वहाँ बेचारे वाजपेयी को कौन पूछता है? 'जवाहरलाल को मैं जानता हूँ और मुझे जवाहरलाल। किन्तु कब किसने मुझसे वाजपेयी को याद किया है?' उनके इस कथन मे कितना दर्द भरा पडा है?

हिन्दी-उद्धार और प्रसार के नाम पर किये गये कार्यों मे, शासन या शिक्षा-संस्थाओ द्वारा उनकी उपेक्षा भी उन्हे बड़ी खलती है और यह स्वाभाविक भी है। वे स्वयं स्पष्ट कहते है 'जो मेरे सिद्धान्तो, मेरी रचनाओ और मेरी सम्मतियों को लेकर अपने काम पूरे करते है, उन्हे तो आज राज्य और केन्द्रीय सरकारें सम्मान देती हैं, उनकी प्रतिष्ठा करती है, और वर्षों से जो हिन्दी की साधना करता रहा है उसे कोई नही पूछता।' एक घटना उन्होंने बताई जब स्व० मौलाना आज़ाद शिक्षामन्त्री थे। 'आज़ाद ने मुझे हिन्दी परिषद् का एक बार सदस्य बनाया था, लेकिन वह समिति भी अजीब थी, मेरा उनसे क्या मेल बैठता? अरे बजाजों की सभा मे हलवाइयो को बुलवाओगे तो फिर व्याकरण सभा बन गई! हिन्दी की परिषद् मे सदस्य बने कौन? जयचन्द्र विद्यालकार जो इतिहासकार है। एम० एन० सत्यनारायणराव जो दक्षिण के है और जो हिन्दी की खाल ही नहीं नोचते, उसकी चमडी और मांस भी नोचते हैं।

उनका पीडापूर्ण मन उस समय और भी अधिक दुखी हो उठता है, जब हिन्दी के उद्धारक कहे जाने वाले उद्भट लोग ही भाषा को विकृत रूप मे प्रस्तुत करते हैं। एक संस्मरण उन्होने बड़े रोचक ढग से सुनाया 'एक बार पटना मे विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् की बैठक थी। मैं भी वहाँ जा पहुँचा। बैठक की समाप्ति पर जब लोग लौट रहे थे, मैंने भी स्टेशन पर नगेन्द्र से पूछा: 'कहो, हिन्दी मे क्या-क्या सुधार कर दिया? 'गया' का स्त्रीलिंग 'गयी' लिखोगे या क्या?' नगेन्द्र ने हँसते हुए टाल दिया और कहा 'वह तो जो आप सुझायेंगे, वही लिखेंगे।' लगता था, यह सुनकर उनके मन मे बड़ी टीस उत्पन्न हुई होगी कि एक ओर ये इस प्रकार कहते हैं, दूसरी ओर सम्मान और

भाषा का कहीं प्रश्न होता है, उन्हीं के शब्दों में 'वाजपेयी' को पता बता देते हैं। ऐसी कटु स्थिति में रहने के कारण सब से उनके सम्बन्ध हो गये हैं। बातों में लेकर इस आक्रोश और खिसियाहट को वे बड़े विनोदपूर्ण ढंग से व्यक्त कर देते हैं। एक बार एक विश्वविद्यालय में हिन्दी प्रशिक्षण गोष्ठी में शिक्षकों और प्रशिक्षणार्थियों के सामने लोगों की भाषा-विषयक अज्ञानता के प्रति भर्त्सना देते हुए कहने लगे : 'हिन्दी में प्रयोग से विद्वान कहे जाने वाले लोग भी बड़े शिथिल करते हैं, उनसे कोई पूछे तो कि वह कहाँ से आया लेकिन पूछने की बात नहीं। अगर पूछें तो उन पुस्तकों का क्या होगा जिनमें ये प्रयोग किये गये हैं। हजारों रुपया लेते हैं, मोटरों में घूमते हैं, मटरगश्ती करते हैं, कुछ काम नहीं करते, काम करे तो वाजपेयी। 'धत्त तुम्हारे की'। ऐसी विनोदपूर्ण मधुर झिड़की के साथ ही वे उन्हें सहला भी लेते हैं, कहते हैं : 'मैं यह आप लोगों को ही नहीं कह रहा हूँ, आपसे क्या कहना, मैं तो सभी को कहता हूँ, धीरेन्द्र, बाबूराम सक्सेना, चाटुर्ज्या आदि बड़े-बड़ों को भी, आप सब तो उनके चेले हो।'

अपनी आन और बात का उन्हें बड़ा गर्व है। वे जो कुछ भी कहते हैं, इतने अधिकार और विश्वास के साथ कहते हैं कि उन्हें चुनौती देने का साहस मुश्किल ही से उपज पाता है। एक घटना उन्होंने इसी प्रकार की सुनाई, जिससे उनकी आन और प्रतिष्ठा तो टपकती ही है—उनकी दृढ़ता और कठोरता भी लक्षित होती है। 'एक बार काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने एक संग्रह प्रकाशित करना चाहा। मैंने भी उसमें वर्तनी अशुद्धियों पर एक लेख लिखा और लेखकों को उनके प्रयोगों पर बड़ी खरी-खरी सुनाई। लोगों को वह लेख अरुचिकर लगा और उन्होंने उसे प्रकाशित करने में अनिच्छा प्रकट की। किन्तु मैंने कह दिया कि या तो मेरी बातों का प्रतिवाद करो या मेरी सामग्री छापो। अन्त में उन्हें झुकना पड़ा।' उन्हीं के शब्दों में : 'विश्वनाथ दास, हजारीप्रसाद, सुनीतिकुमार, सभी को नाक रगड़नी पड़ी और वही हुआ जो मैंने चाहा।'

वाजपेयीजी कोई जिद्दी स्वभाव के ही हों, ऐसी बात नहीं है। उनकी बात और तर्क में वजन होता है और इसीलिए उनका इतना सम्मान और प्रतिष्ठा है। किन्तु इस सम्मान और प्रतिष्ठा को कभी राजकीय संरक्षण नहीं मिला। और न शिक्षा संस्थाओं ने ही उन्हें वाछित प्रोत्साहन दिया। उनकी दो रचनाएँ, 'हिन्दी शब्द मीमांसा' और 'शब्द अनुशासन' बड़ी उपयोगी और वैज्ञानिक हैं। किन्तु खेद की बात है कि ये दोनों रचनाएँ शिक्षा मण्डलों या विश्वविद्यालयों के स्वीकृत पाठ्यक्रम में कभी सम्मिलित नहीं की गईं। जबकि

उन्हें पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने वाले यही तब लोग हैं, जो उनके प्रति इतनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं। ऐसी घटनाएँ उनके मन-मानस को झकझोर देती हैं। किन्तु वे सदैव हिन्दी वालों में अपरिमित स्नेह करते हैं और उन्हें समझाते हैं। उनकी समय-समय पर प्रकट होने वाली खिझलाहट परिस्थिति-वश ही नहीं, अवस्थावश भी है। किन्तु वे स्वभाव ही से मुँहफट और खरी-खरी सुनाने वाले हैं, उन्हें अपनी बात कहने में कभी भी न किसी का भय है और न संकोच।

मुझे एक घटना याद है जब उन्होंने एक समारोह के मुख्य अतिथि न्यायमूर्ति वेदपाल त्यागी के कथन का भरी सभा में तत्काल प्रतिवाद कर दिया। घटना इस प्रकार थी कि राजस्थान के न्यायमूर्ति एक समारोह में हिन्दी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए भाषण का अन्त कर रहे थे। अन्त करते-करते उन्होंने कहा 'हिन्दी भारत की भाषा होगी, किन्तु दक्षिण पर हमें उसे लादना नहीं है।' यह सुनते ही वाजपेयीजी गर्मा गये। वे कहने लगे : 'यह सब झूठ है, आप सभी मन्त्रियों की भाषा में बोलते हैं, सरकार की चापलूसी करते हैं। दक्षिण वाले खूब हिन्दी पढ़ रहे हैं और पढ़ते हैं। उन पर न कोई लदना है न लादना है। अरे, आखिर लादना कहते किसे हैं ? कानून तो सदा लादा ही जाता है, अगर कानून लादा नहीं जाता, तो चलता क्यों ?' उन्होंने आवेश में कहा : 'हिन्दी वालों की वही दशा होगी, जो खान बन्धुओं की पाकिस्तान में हुई है। अरे, एक बार भागीरथी को धरती पर ले आये, तो अब उसे पुनः पर्वत पर क्यों ले जाना चाहते हो ? हिन्दी राष्ट्रभाषा मान ली गई, अब क्या बात रह गई कि उस पर पुनः विचार करना पड़ रहा है ?'

हिन्दी, अंग्रेजी और क्षेत्रीय भाषाओं के सम्बन्ध में भी उनका दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट है। वे कहते हैं . 'हिन्दी-भाषा एक कॉमनवेल्थ है, जिसमें विद्यापति की मिथिला, तुलसी की अवधी, सूर की व्रज, मीरा की राजस्थानी, गुजराती आदि सभी एक-साथ रहती हैं। फिर त्याग और स्वीकार्य का विवाद ही क्या ?' उनका अधिकारपूर्ण स्वर कभी-कभी गर्वोक्तिपूर्ण हो जाता है, किन्तु वह दम्भ-रहित होता है। उन्हीं के इन शब्दों में ' मैं अधिकारपूर्वक कहता हूँ, बहुत अभिमान से कहता हूँ और यह अभिमान हिन्दी के लिए है—हिन्दी का भला चाहता हूँ।'

युवाओं को वे सदैव प्रोत्साहन देते रहते हैं और पूर्वजों के आदर्शों की प्रतिच्छाया में पलते रहने की प्रेरणा देते हैं। अपने एक सामूहिक फोटोग्रुप को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और गुजरात विश्वविद्यालय के हिन्दी के अध्यक्ष

गीता में कर्मयोग

●

अतुल गुप्ता

माया से प्रेरित, मोह से पीडित जीव इस भवसागर मे चक्कर काटता रहता है। भयावह है यह भवसागर, जिसमें काम, क्रोध, मद, लोभ के हिंसक नाके रहते हैं, तृष्णा के भँवर उठते हैं तथा दु ख-सुख के झभावात् है। इसको पार करने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के कर्म करता है, किन्तु ज्यो-ज्यो वह प्रयत्न करता है, त्यो-त्यो इसमे और फँसता जाता है, जैसा कि महाकवि बिहारी ने भी कहा है

को छूट्यो इहि जाल परि कत कुरग अकुलात,
ज्यो-ज्यो सुरझि भज्यो चहत त्यो-त्यों उरझत जात।

क्या कर्म है, क्या अकर्म, इसमे बुद्धिमान भी मोहित हो जाते हैं—
किम् कर्म किमकर्मेति कवयोऽपि अत्र मोहित । बेचारा अर्जुन भी इसी चक्कर में फँस गया। उसकी बुद्धि निश्चय न कर सकी कि क्या करूँ, क्या न करूँ ? वह भगवान से निवेदन करता है :

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे,
शिष्यस्तेऽहं शाधि माम् त्वा प्रपन्नम्।

जीवमात्र के कल्याण हेतु तब भगवान उसे कर्मयोग की दिव्य-ज्योति प्रदान करते हैं। कर्मयोग का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। कर्मयोग ही है, जिसके कारण भारत जगद्गुरु की उपाधि से विभूषित हुआ। कर्मयोग का थोडा-सा ज्ञान भी परमानन्द की प्राप्ति का कारण होता है। यह वह अमूल्य रत्न है, जिसको प्राप्त कर :

न दुखेन गुरुणापि विचाल्यते।
मानव कठिन से कठिन दु ख में विचलित नही होता।

गीता मे कर्मयोग को ही विशेष रूप से व्याख्या की गई है तथा इसे कई नामो से पुकारा गया है। निष्कर्म योग, असंगभाव, मद्, अर्थ, कर्म, तद्

अर्थ कर्म, भगवद् अर्थ कर्म आदि इसी कर्मयोग के नाम हैं। कर्मयोग की परिभाषा गीता में इस प्रकार दी गई है :

योगस्थ: कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनंजय,
सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्वम् योग उच्चते।

संग अर्थात् कामना का परित्याग करके, सिद्धि अथवा असिद्धि, सफलता अथवा विफलता को समान समझ कर कार्य करना ही कर्मयोग कहलाता है। संसार में आपको रहना है, इसका त्याग नहीं हो सकता। कर्म करता है, कर्म का त्याग असम्भव है। तो फिर कौन-सा उपाय है कि संसार में रहते हुए भी कर्म-बंधन में न फँसना पड़े। यह उपाय आपको भगवान् श्रीकृष्ण बताते हैं। वे कहते हैं कि संसार को त्यागने की आवश्यकता ही नहीं और संसार को त्याग कर जाओगे भी कहाँ ? कर्म-बन्धन के भय से कर्म का त्याग अनुचित है, कर्म का त्याग हो नहीं सकता। आवश्यकता है कर्मफल के त्याग की, इच्छा के त्याग की। तभी आप कर्म-बन्धन से मुक्त हो सकते हैं। प्राचीनकाल में जनक आदि ने भी इसी मार्ग को ग्रहण किया। इसीलिए भगवान कहते हैं : 'हे अर्जुन ! किसी भी भय से कर्म का त्याग अनुचित है, अपने कर्त्तव्य से गिरना है। तुम्हें नियत कर्म तो करना ही पड़ेगा। कर्म न करने से तो शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं हो सकती।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायोह्यकर्मणः
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।

अब प्रश्न रहा यह कि किस प्रकार का कर्म, बन्धन का कारण बनता है ? भगवान् इसका उत्तर देते हैं :

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः
तदर्थम् कर्म कौन्तेय मुक्त संग समाचर।

हे कौन्तेय ! यज्ञ अर्थात् भगवान् के निमित्त कार्य न करके अन्य प्रकार के कर्म ही बन्धन का कारण बनते हैं। इसलिए हे अर्जुन ! तू आसक्ति-रहित होकर तदर्थ अर्थात् भगवान् के निमित्त कार्य कर। कृपणा फल हेत्वा—फल की इच्छा रखने वाले कृपण हैं। इसलिए इस कृपणता का त्याग करो और भगवद् अर्थ कर्म करो—इसी में कल्याण है।

अब यहाँ एक रुकावट आती है। कामना का त्याग अति कठिन है। भक्तवत्सल भगवान्, भक्त की इस कठिनाई को, इस रुकावट को जानते हैं। इसलिए वे कर्मयोग की साधना का एक और सरल उपाय बताते हैं: 'तुम करो, किन्तु जो कुछ करो मुझे अर्पण कर दो'।

यत्करोषि, यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्,
यत्त यस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।

! तू जो कुछ भी करता है, जो कुछ भी खाता है, जो कुछ
ह सब मेरे अर्पण कर दे ।'

नु है गीता के भगवान् ! भक्तो के सम्पूर्ण कर्मों का फल
तैयार है। कर्म का इतना सुन्दर विवेचन और कर्म-बन्धन
तना सरल साधन आपको अन्यत्र नही मिल सकता। यद्
गम् - हे भक्त, जो कुछ भी करो, मुझे अर्पण कर दो। इस
सब प्रकार के कर्म-बन्धनो से मुक्त हो जाओगे, और—माम्
प्त होगे, इसमे तनिक भी सन्देह नही।

ायि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा,
राशी निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगत ज्वर ।

ज्ञान है, यही विज्ञान है और यही एक प्रकार के दु.खो से
न साधन है।

व्यवहृत होने पर इसका लक्ष्य होता है—मनुष्य के आन्तरिक-जीवन का प्रसार। उपयोगिता के धरातल पर क्रियाशील होती हुई मानवीय-सृजनशीलता औद्योगिक वस्तुक्रमों को उत्पन्न करती है, जो सभ्यता का एक आवश्यक पक्ष है। मानवीय-जीवन की निरुपयोगी किन्तु अर्थवती सम्भावनाओं का अन्वेषण करती हुई, वह संस्कृति की सृष्टि करती है, जिसकी अभिव्यक्ति कला तथा विज्ञान की कृतियों में होती है। मानव अपनी आत्मिक-अनुभूतियों को प्रकट करने के लिए उत्कंठित रहता है, और इसके लिए वह प्रतीकों का सहारा लेता है। संस्कृति का उद्गम है मानव का सृजनात्मक अनुचिन्तन, और इसका निर्माण उन क्रियाओं के मूल में है, जिनके द्वारा मानव यथार्थ की सार्थक छवियों से सम्बन्धित चेतना प्राप्त करता है।

संस्कृति का निर्माण मानवात्मा अपने ही आन्तरिक तत्त्वों से करती है। जैसे मकड़ी अपने ही आन्तरिक तत्त्वों से एक जाला बुन लेती है, और उसी प्रकार मानवात्मा अपने आन्तरिक भाव-तत्त्वों से ही संस्कृति का निर्माण कर लेती है। इन भाव-तत्त्वों से अनुप्राणित मानव सर्वोपरि सत्ता की प्रेरणा से, अथवा ज्ञानदान या सहजवृत्ति से उच्चतर मूल्यों या विचारों की झाँकी पा लेता है, उसके विशेष सामाजिक परिवेश में वही दृष्टि एक असाधारण मानसिक रूप ले लेती है और विकास का आदर्श बन जाती है। यही विशेष सूक्ष्म और स्थूल रूपों में परिणत होती है, जो उनकी समष्टि से संस्कृति का निर्माण होता है। डिक्सन के शब्दों में, अपने जीवन में हम जो [illegible] रचना करते हैं, वे भी हमारी संस्कृति के समष्टि रूप में अंग बन जाते हैं।

यत्करोषि, यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्,
यत्त पस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।

'हे अर्जुन ! तू जो कुछ भी करता है, जो कुछ भी खाता है, जो कुछ हवन करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे ।'

कितने दयालु हैं गीता के भगवान् ! भक्तों के सम्पूर्ण कर्मों का फल अपने ऊपर लेने को तैयार हैं। कर्म का इतना सुन्दर विवेचन और कर्म-बन्धन से मुक्त होने का इतना सरल साधन आपको अन्यत्र नहीं मिल सकता। यद् कुरु तद् कुरु मदर्पणम् हे भक्त, जो कुछ भी करो, मुझे अर्पण कर दो। इस प्रकार तुम शुभाशुभ सब प्रकार के कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाओगे, और—माम् उपेष्यसि, मुझको प्राप्त होगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा,
निराशी निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगत ज्वर ।

कर्मयोग ही ज्ञान है, यही विज्ञान है और यही एक प्रकार के दुःखों से मुक्त होने का एकमात्र साधन है।

●

संत-कवि दादू और उनका सम्प्रदाय

द्वारकेश भारद्वाज

भूतपूर्व जयपुर रियासत में दो संत कवि हुए हैं। इन दोनों में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध रहा है। शिष्य थे जयपुर से ३८ मील दूर स्थित दौसा के प्रकाण्ड पण्डित और सन्त सुन्दरदास एवं गुरु थे जयपुर से २० मील दूर स्थित नरायणा के स्वामी दादूदयाल।

महात्मा दादूदयाल का जन्म १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान पर माना जाता है। इनकी जाति के सम्बन्ध में भी मतभेद है। कुछ लोग इन्हें गुजराती ब्राह्मण मानते हैं, तो कुछ मोची या धुनियाँ। लेकिन यह निश्चित ही है कि ये किसी उच्च जाति के नहीं थे। ये अधिक शिक्षित भी नहीं थे। इन्होंने अपने गुरु का नाम कहीं नहीं लिखा है। केवल 'दादूवाणी', जो इनके द्वारा समय-समय पर रचित दोहों और गेय पदों का संग्रह है, में कबीर का नाम अनेक बार आने से लोग इन्हें कबीर का मतानुगामी मानते हैं।

वैसे खोज करने पर पता चलता है कि संत दादूदयाल की स्मृति में कोई विशिष्ट स्मारक नहीं बनाया गया, क्योंकि वे इस प्रकार की प्रथाओं को अनुपादेय मानते थे। जिस-जिस जगह उन्होंने अधिकांश समय बिताया वही स्थान कालान्तर में उनके स्मारकों के रूप में मान्यता पा गये। महात्मा दादू ने सबसे पहले करडाला (कल्याणपुर) में सबसे अधिक समय बिताया। जिस शैल-खण्ड पर महात्माजी ने निवास किया था, वहाँ एक भजन-शिला है। आज भी उनके अनुयायी उस स्थल को पावन समझकर श्रद्धा से नतमस्तक होते हैं। कालान्तर में शैलखण्ड के नीचे एक 'दादूद्वारा' का निर्माण किया गया।

करडाले से महात्मा दादूदयाल साँभर पधारे एवं वहाँ के सर में अपनी कुटिया बनाकर रहे। बाद में किसी अज्ञात श्रद्धालु ने उस स्थान पर एक छतरी का निर्माण करवा डाला, जो आज भी विद्यमान है। साँभर में इन पंक्तियों के लेखक ने साँभर कस्बे में निर्मित दादूद्वारा भी देखा है, जिसका निर्माण महात्मा

टण्डीरामजी के सत्प्रयत्नों से प्रारम्भ हुआ एवं महाराज चैनजी ने इसे पूर्ण किया। साँभर की छतरी एव दादूद्वारा, दोनों ही अब दादूदयालजी के स्मारक के रूप में मान्यता पा गये।

साँभर से महात्मा दादू जयपुर की उत्तर-उपत्यका मे बसे आमेर कस्बा, जो उस समय राज्य की राजधानी थी, मे पधारे। वहाँ उनका १४ वर्ष का समय बीता, जो अन्य सभी स्थानों के समय से अधिक है। आमेर मे भी विशाल दादूद्वारा है। जिस स्थल पर श्रद्धास्पद दादू ने बैठकर साधना व तप किया था, वह आज भी सुरक्षित है।

आमेर से महाराज नरायणा पधारे। वहाँ जिस शमी-वृक्ष (सेजड़े) के नीचे बैठकर उन्होने तपस्या व आत्म-चिंतन किया था, वह आज भी विद्यमान है। खण्डितावस्था मे यहाँ एक त्रिपोलिया नामक स्थान है, जहाँ महाराज ने कुछ समय तक निवास किया था। शमी-वृक्ष के निकट निर्मित भजन-शाला भी अब तक विद्यमान है। नरायणा का दादूद्वारा व मन्दिर भी काफी विशाल हैं। लेकिन वर्तमान में यह केवल भक्तों को मूक रूप से भूतकाल की गौरवगाथा ही बताता है। नरायणा ही महाराज का अंतिम निवास-स्थान रहा। अतः आचार्य-गद्दी भी नरायणा मे ही रही। अत इसे ही मुख्य स्मारक के रूप में स्वीकार किया गया। यही महाराज का सं० १६५६ मे गोलोकवास हुआ। महात्मा दादू की स्मृति के रूप मे उनकी प्रथम बरसी के दिवस, संवत १६६०, से अब तक प्रतिवर्ष उनके भक्तो व अनुयायियो के सामूहिक निर्णय के आधार पर, फाल्गुन शुक्ला ५ से एकादशी तक यहाँ दादू-पंथी महात्माओ का विशाल मेला लगता है। इसी कस्बे मे इस पथ वालो की एक स्वतन्त्र बस्ती भी बसी हुई है। मेले के अवसर पर रियासती-काल से ही एक दिन का भण्डारा राज्य की ओर से होता है। एव साँभर के नाजिम (उप-जिलाधीश) राज्य की ओर से भेंट करने आते है। आचार्य-गद्दी होने के कारण सम्प्रदाय के आचार्य यही निवास करते है। वर्तमान मे १७वें आचार्य गद्दीनशीन है।

महात्मा दादू का स्थूल शरीर नरायणा के निकट ही 'भैराणा' मे रखा गया था। अत यही उनका अंतिम स्मारक है। बाद में इस ग्राम मे स्थान-विशेष पर, जहाँ उनका स्थूल शरीर रखा गया था, चबूतरे का निर्माण कर दिया गया। बाद मे पालकाजी (पगल्या) एव कुछ रहने के स्थान भी बन गये। भैराणा मे भी फाल्गुन कृष्ण ३० से फाल्गुन शुक्ला ३ तक मेला लगता है। इस प्रकार दादू-सम्प्रदाय के पंच तीर्थों में करडाला (कल्याणपुर), साँभर, आमेर, नरायणा और भैराणा स्मारक-रूप में जयपुर क्षेत्र में स्थित हैं।

महात्मा दादू निर्लिप्त एवं फक्कड़ संत विचारक थे । आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में उनके जो विचार थे, वे अपनी कवितावद्ध वाणी में जन-जन के समक्ष कल्याण-भावना से रखते थे । उनका तो उद्देश्य केवल अपने विचार प्रकट करना मात्र था, न कि कविता करना । अतः उनकी रचनाओं में, जो 'दादूवाणी' में संग्रहित हैं, सरलता है । निर्गुण-पंथियों के समान दादूपंथी भी अपने को निरंजन निराकार का उपासक मानते हैं । ये लोग न तिलक लगाते हैं, न कंठी धारण करते हैं । केवल हाथ में सुमिरनी रखते हैं और 'सत्तराम' कहकर अभिवादन करते हैं । दादूवाणी अधिकतर कवीर की साखियों से मिलती-जुलती दोहों की रचनाएँ हैं । कहीं-कहीं गेय पद भी हैं । भाषा पश्चिमी हिन्दी है, जिसमें राजस्थानी का पुट है । भाषा में अरबी-फारसी के शब्द भी पाये जाते हैं । इनमें प्रेम-तत्त्व की व्यंजना अधिक है । प्रेम-भाव का निरूपण अधिक सरस व गम्भीर है । खण्डन और वाद-विवाद में इन्हें अधिक रुचि नहीं थी । सतगुरु की महिमा, ईश्वर की व्यापकता, जाति-पाँति का निराकरण और आत्मबोध आदि इनकी वाणी के मुख्य प्रसंग हैं । इनकी रचनाओं का अनुमान नीचे उद्‌वृत पद्यों से स्पष्ट है :

घी व दूध में रमि रह्या व्यापक सब ही ठौर ।
दादू वकता बहुत है, मथि काढ़ै ते और ।।
जब मन लागै राम सौं तब अनत काहे को जाई ।
दादू पाणी लूण ज्यों ऐसे रहे समाई ।।
दादू देख दयाल को सकल रहा भरपूर ।
रोम रोम में रमि रह्या, तू जनि जाने दूर ।।
केते पारिख पचि मुए कीमत कही न जाई ।
दादू सब हैरान हैं गूँगे का गुड़ खाई ।।

दादू-पंथी सम्प्रदाय :

महात्मा दादू का कोई सम्प्रदाय चलाने का उद्‌देश्य नहीं था । वे तो निरी कल्याण-भावना से क्षेत्र में उतरे थे, उन्हें गृहस्थियों को भी अपना शिष्य बनाने में कोई आपत्ति नहीं थी । अनेक ने गृहस्थ का त्याग कर उनकी शिष्यता ग्रहण की थी । कुछेक ऐसे भी भक्त व शिष्य थे, जिन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश ही नहीं किया था । इससे स्पष्ट है कि महात्मा दादू के यहाँ छूत-अछूत, गृहस्थ-अगृहस्थ सभी के लिए समान स्थान था । दादू ने न तो अपने भक्तों व शिष्यों के नामों में ही परिवर्तन किया, न उन्हें शिष्य बनाने हेतु कोई अन्य काम ही किया । जिन्होंने महात्मा दादू के विचारों को अपनाया वे स्वतः ही अपना रूप बदलते गये ।

महात्माजी के गोलोकवासी होने पर उनके सभी शिष्य नरायणा में एकत्रित हुए एवं उनकी विचारधारा को कायम रखने के लिए किसी को उनकी गद्दी पर आसीन करने का विचार किया। गरीबदासजी, जो दादू के विशेष कृपा-पात्र थे एवं जिन्होंने दादूदयाल से योगाभ्यास की शिक्षा ग्रहण की थी, जो स्वयं शांत प्रकृति के संत थे एवं उच्च श्रेणी के गायक भी थे, को गद्दी पर बैठाने का निर्णय किया गया। इसी समय से शनैः शनैः महात्मा दादू के अनुयायी एक सूत्र में बंधते गये एवं सम्प्रदाय या पंथ का रूप धारण करते गये। दादू-पंथ में अनेक चमत्कारी महात्मा हुए हैं, जिनकी कहानियाँ आज भी आश्चर्य से चकित कर देती हैं। यही कारण था कि राजपूताने की कई रियासतों ने इन महात्माओं को जमीन, जायदाद, कोठी व सम्मान देकर उनके प्रभाव का लोहा माना था। उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, कोटा, बूँदी व अलवर आदि रियासतों ने इस पंथ को संरक्षण देने को अनेक कायदे-कानून बनाये, जो आज भी मान्य हैं।

प्रस्तुत लेखक ने प्राथमिक शिक्षा का पूर्वार्द्ध झुनझुनु जिले के उदयपुर (शेखावाटी), जो तत्कालीन जयपुर रियासत का प्रमुख ताल्लुका था, में पाई थी। वहाँ लेखक के पिता प्रधानाध्यापक थे और वहीं पर दादू-पंथी सम्प्रदाय की एक जमात थी जो आज भी है। जमात का अर्थ है वर्ग-विशेष। लेकिन दादू-पंथ में समूह में रहने वाले साधु, जमात कहलाते है। जमात का नियंत्रण एक उच्चाधिकार प्राप्त पंचायत के हाथ में रहता था।

वैसे उदयपुर (शेखावाटी) एक ऐतिहासिक कस्बा है। इसकी स्थिति भी किले का काम करती है। कालान्तर में यह वैश्य-संस्कृति का प्रधान नगर था। मराठों की इस पर कोपदृष्टि हुई और लूटते समय इसके राजप्रासादों को मिट्टी में मिला दिया। कहते हैं, अकबर के जमाने में यहाँ तांबे की खान थी। लौह सिंघान के पत्थरों के टुकड़े आज भी यहाँ बिखरे मिलते हैं। यहाँ मध्यकाल के कृष्ण-भक्ति परम्परा के कुछ देवालय भी हैं। उदयपुर शेखावाटी का सम्बन्ध सशस्त्र नागा (दादूपंथी) साधुओं से रहा है, जिसकी चर्चा यहाँ करना अपेक्षित है, ताकि पाठकों को ज्ञान हो सके कि १६६० के बाद बीसवी सदी तक के काल में दादूदयाल की परम्परा किस रूप में परिणत हुई।

इतिहास साक्षी है कि औरंगजेब के शासनकाल में नारनौल में सतनामी साधुओं का एक सशस्त्र विद्रोह हुआ था, जिसे शासन ने निर्दयतापूर्वक दबा दिया था। नारनौल के निकट ही नीम-का-थाना नामक कस्बे में इन दादू-पंथियों की एक छावनी आज भी है। छावनी का दादूपंथियों का अखाड़ा आज भी है। छावनी का अखाड़ा प्रसिद्ध था। इस अखाड़े के दादूपंथी साधु पूरे लठैत व बाँके लड़ाके थे। बरछी, भाले, तलवार आदि नियमित रूप से धारण करते थे।

उजड़ते जा रहे हैं। जमातें अब अकर्मण्य हो गई है। दादू के पथ के बारे में दादू का स्वयं का निम्नगेय पद्य दृष्टव्य है :

भाई रे ! ऐसा पथ हमारा।
द्वै पख रहित पंथगह पूरा अवरन एक अधारा।
वाद विवाद काहू सौं नाही मैं हूं जग में न्यारा।।
समदृष्टी सू भाई सहज मे आपहिं आप विचारा।
मैं, तैं, मेरी यह मति नाही निरबैरी निरविकारा।।
काम कल्पना कदे न कीजे पूरन ब्रह्म पियारा।
एहि पथि पहुँचि पार गहि दादू, सोतत् सहज सभारा।

युद्धकाल में कवियों का योगदान

मूलदान देपावत

'वीर भोग्या वसुन्धरा'—वीर ही उस धरती का उपभोग कर सकते हैं, जो समरांगण मंडप में जयश्री वरणोपलक्ष में दत्त हुई है। युद्ध में ही शौर्य एवं पराक्रम का प्रदर्शन होता है। युद्ध का मनोबल से अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। मनोबल में उत्थान एवं निखार लाया जाता है कवि की ओजस्वी वाणी से। कवि का उद्घोष रणमन्त रणबाँकुरों को कर्तव्य तथा अपनी आन-मान और मर्यादा का भान कराता है। युद्ध की दुन्दुभि में कवि का प्रयाणगीत शूरवीरों की भुजाओं में फड़कन, उर में शत्रु को कुचलने की भावना भर देता है। वह निढाल, रक्तरंजित, आखिरी दम भरते रणवीरों में जान फूँक देता है तथा उनको बलिदान की प्रेरणा देता है।

कवि-वाणी 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' का दैदीप्यमान संदेश प्रसारण करती वह दीप्त मशाल है, जिसमें देश-प्रेमी परवाने अपने आपको न्योछावर कर धन्य हो जाते हैं। उनका उज्ज्वल आत्मोत्सर्ग दूसरों का पथ-प्रदर्शक बन जाता है। इसे प्रज्वलित करने वाला कवि जन्म से लेकर मरणोपरान्त तक बहादुरी व कर्तव्यों का पाठ पढ़ाता रहता है। उसकी वाणी हर उम्र में, हर स्थिति में प्रेरणाप्रद रहती है। उन्होंने वीररस के अनेकानेक ग्रन्थ लिखे हैं, जो हजारों सालों से वीरता का मन्त्र फूंकते आये हैं, रहेंगे।

वीरप्रसविनी माताएँ अपने गर्भस्थ शिशु को भी वीरता से अनभिज्ञ नहीं रहने देतीं। वह जन्मते ही अपनी माँ की कोख को उजागर करने के प्रमाण-स्वरूप उदाहरण प्रस्तुत कर देता है—वीररसावतार कवि श्री सूर्यमल्ल मिश्रण ने कहा है :

हूँ बलिहारी राणियाँ, भ्रूण सिखावण भाव,
नालो वाढ़ण री छुरी झपटै पावियो साव।

पालने में झुलाती माता कवि की कृति तथा पुत्र की भावी जिम्मेवारी उसके मस्तिष्क में अच्छी तरह बैठा देती है :

इला न देणी आपणी हालरिया हुलराय ।
पूत सिखावै पालणै मरण बडाई माँय ॥

कवि कदम-कदम पर वीरो को सचेत एव वीरता का ज्ञान कराता रहता है । नव-विवाहिता मडप मे ही अपने पति का स्वरूप देख लेती हैं तथा घावों के निशानों से उसकी वीरता का मूल्याकन कर लेती हैं । उन्हे अपने प्रियतम पर गर्व होता है, वह अपनी सहेली से कहती हैं

मैं परणती परखियो, तोरण री तणियाँह ।
घरघण लाखी पहरता, पहरै घण जणियाँह ॥

मेरे लाखी पहनने अर्थात् विधवा होने के साथ ही साथ शत्रुओं की अनेक औरतें भी अपना सुहाग खो देंगी ।

अगर कोई युद्ध मे कायरता, भीरुता कर भी लेता है, तो उसे वापस आने पर स्वागत-सत्कार स्वरूप अपनी पत्नी की मृदुवाणी कभी प्राप्त नही होती—

कत लखीजे उभयकुल नही फिरती छाँह ।
घिरिया मिलसी गींदवो भलै न धणरी बाँह ॥

युद्ध से भागे पति को तकिया बेशक मिल सकता है, पर पत्नी की बाँह कभी नही । कायर पति को पत्नी की वाणी मे कवि ललकारता, फटकारता है .

विष खावो कै सरण लो सखरिया री थाह ।
कै कठा बिच घाललो घाघरिया री घाह ॥

युद्ध में पीठ देने वाले पति से उदास एव खिन्न चित्त से वह कहती है .

कत घरै किम आविया, तेगा रो घण त्रास ।
लहँगे मूझ लुकीजिये बैरी रो न विसास ॥

कौन होगा जिसका खून ऐसा सुन कर खौल न उठेगा, जो फिर से पराक्रमी न बन बैठेगा । कायर पति के कारण वह अपने सुहाग से भी उदासीनता हो जाती है ।

मणिहारी जा री सखी, अब न हवेली आव ।
पीव मुवा घर आविया, विधवा किया बणाव ॥

सच भी है :

यो सुवाग खारो लगे, जद कायर भरतार ।
रंडापो सागै भलो, होय धूर सिरदार ॥

क्योंकि उसकी तो भोलावरण यह थी :

पाछा फिर मत भ्रांकज्यो, पग मत दीजो टार ।
कट भल जाज्यो खेत में, पर मत आज्यो हार ।।

ये शब्द कभी उन्हें कर्तव्य से टलने नहीं देते और वे अपना शौर्य दिखा ही देते हैं :

रज जेती घर ना दहै, रज रज भल कट जाय ।

धन्य है कवियों की वाणी को जिसके प्रताप ने कई कायरों को पराक्रम दिखाने के लिए मजबूर कर दिया। देश पर शीश चढ़ाने के व्रत का पालन कराया। कई हारे हुए व युद्धों को जीत में परिणत कर दिया। पग-पग उन्हें सम्हाले रखा। यही कारण था कि प्राचीन काल में युद्ध में कवियों, चारणों के मञ्च डाले जाते थे, जो सैनिकों में जोश भरा करते थे। एक माँ अपने हारे हुए निराश बेटे से कहती है :

अलातं तिन्दुकस्येव मूहूर्तमपि विज्वलं ।
या तुषाग्निरीवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषु: ।।

तू तिन्दुक की जलती हुई लकड़ी के समान दो घड़ी प्रज्वलित हो जा परन्तु पराजय से जीने की इच्छा से भूसी में लगी आग के समान धुआँ न कर।

कवियों की वाणी ने वीरों की वीरता में चमक प्रदान की। भूषण ने शिवाजी को कितनी वीरता का अधिपति बना दिया। उसकी वाणी शिवराज में कितना, कैसा जोश भर देती थी कि शिवराज को उसने रणवीरों की अग्रिम श्रेणी में शूरवीरता की पराकाष्ठा से भी ऊपर पहुँचा दिया। स्पष्ट है :

शाहजी सपूत रण सिंह शिवराज वीर,
वाही शमशेर शिर शत्रुन पै कढ़िके
काटे वे कटक कटकीन कै विकट भू में,
हमसों न जात कह्यो शेपहु पै पढ़िके,
पारावार ताहि को न पावत है पार कोऊ
श्रोनित समुद्र यह भाँति रह्यो बढ़िके,
नांदिया की पूंछ गहि बूडत कपाली भयो
काली बची मांस के पहार पर चढ़ि कै।

और भी :

ऊँट हय पैदल सवारन के झुंड काटि
हाथिन के मुंड तरबूज लों तरासती।

वाह रे कवि ! और वाह रे तेरी कविता, जिससे प्रेरित हो वीरों ने वैरी को त्रस्त किया :

ऐनो परी पर्मनमें हुमें पातसाहन को
नामपाती खाती सो वनासपाती खाती हैं।

राणा प्रताप के प्रताप को प्रतापित करने वाले कवि थे पृथ्वीराज ही थे, जिनकी प्रेरणा से राणा अधिक बहादुरी, पराक्रम दिखा सके। जब प्रताप ने अकबर की आधीनता की ओर झुकाव-भरा पत्र दिया तब पृथ्वीराज ने जो दोहे लिख कर भेजे तथा जो प्रतिक्रिया हुई, किसी से छिपी नहीं है :

पातल जो पतसाह बोलै मुख हूँता वयण।
मिहिर पिछम दिस माह ऊगै कासपराव सुत ॥
पटकूँ मूँछा पाँण के पटकूँ निज तन करद।
दीजै लिख दीवाण, इण दो मँहली बात इक ॥

जिनका प्रत्युत्तर दिया प्रताप ने इनसे प्रेरित होकर

तुरक कहासी मुख पतो इण तन सू इकलग।
ऊगै ज्यांही ऊगसी प्राची बीच पतग ॥
खुसी हूँत पीथल कमध पटको मूँछा पाण।
पछटण है जेते पता कलमो सिर कैवाण ॥

धन्य है पृथ्वीराज की लेखनी जिसने मेवाड़ाधिपति की शान को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया।

दूसरा उदाहरण है जालौर के सामन्त के शत्रु से बुरी तरह पस्त हो भागने के इरादे पर एक चारण की एक कृति—

आभ फटै घर ऊलटै कटै बगतराँ कोर।
सीश कटै धड़ तड़फड़ै जद छूटै जालौर ॥

इससे प्रेरित हो राजपूतों ने केशरिया बाना धारण कर युद्ध की चुनौती स्वीकार कर ली तथा जालौर सम्मान रख लिया।

पृथ्वीराज चौहान को कवि शिरोमणि चन्दबरदाई द्वारा सुल्तान को मारने का संकेत :—

चार बाँस चौबीस गज अगुल अष्ट प्रमान।
ता ऊपर सुलतान है मत चूकै चौहान ॥

मत चूकै चौहान ! और चौहान चूका नहीं। तो सुल्तान को मिट्टी में मिलाने का श्रेय चन्द को ही समझो, पृथ्वीराज तो महज माध्यम था।

युद्धकाल में कवि का महत्त्व सहस्त्र योद्धाओं से भी बढ़कर होता है। देश की संकटपूर्ण छाया में कविता का प्रभाव, कवि का आह्वान हर मनुष्य को झकझोर कर रख देता है। वह आपसी मतभेद, वैमनस्य को ताक पर रख कर शस्त्र ग्रहण करने का निमन्त्रण देता है, प्रेरणा देता है।

उठो स्वदेश के लिए बनो कराल काल तुम,
उठो स्वदेश के लिए बनो विशाल ढाल तुम,

उठो जवानो कूच करो युद्ध का बज उठा नगारा है,
कड़क उठे हैं मन्दिर-मस्जिद गरज उठा गुरुद्वारा है,

कौन जवान ऐसा होगा जो इस हुंकार को सुनकर चल नहीं पड़ेगा अपने कर्त्तव्यों पर मर मिटने को।

वह किसी का साथ नहीं देखता, किसी का आसरा नहीं चाहता :

सिंघां देश विदेश सम सिंघाँ किसा वतन्न।
सिंघ जिके वन संचरै बै सिंघाँ रा वन्न॥

और उन सिंह-सपूतों की दहाड़, गरज शत्रु की कुचालों को विफल करती हुई किसी भी ताकत को हिला कर रख सकती है।

उठो, आवाज़ दो

रामेश्वर 'आनन्द'

आज हम स्वतन्त्र हैं। इसलिए अपने हानि-लाभ, भलाई-बुराई, उत्थान-पतन में जिम्मेदार स्वयं हैं। हम भारत के हैं, भारत हमारा है। यह भावना जन-जन के हृदय में जागृत करनी होगी। हम ऐसी कोई बुराई अपने देश में नहीं रहने देंगे, जिसमें देश के अपमान की बात हो अथवा लज्जा व पश्चाताप हो। यह प्रण लेना होगा, क्योंकि आज हम स्वतन्त्र हैं। अब हम अपने अपमान, दौर्बल्य, बुराई, हानि या पतन को किसी अन्य समुदाय, अन्य देश अथवा जाति पर नहीं थोप सकते। स्वतन्त्रता का उपभोग अवश्य करें, किन्तु इसके साथ ही आई हुई जिम्मेदारियों की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। स्वतन्त्र होने की खुशी में मस्त होकर कर्त्तव्य की अवहेलना नहीं कर सकते। हमें अपनी जिम्मेदारी पूर्ण अंशों में पालन करनी होगी।

हमारे देश में विभूतियाँ पैदा होती हैं अथवा भारत के कुछ नेता विश्व के महान् व्यक्तियों में से हैं और हमारा इतिहास गौरवमय है, यह सत्य है, किन्तु इससे भावी जीवन के लिए प्रेरणा ही ली जा सकती है। देश की भाव, उन्नति हमारे कर्त्तव्य-पालन पर निर्भर होगी, विगत इतिहास पर नहीं। हमारा दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि भारत अपनी भारतीयता को लिये हुए उन्नति करे। यदि भारत भारत न होकर रूस, चीन, अमेरिका अथवा ब्रिटेन की प्रतिलिपि बने, तो कोई विशेष लाभ न होकर मूलतः भयंकर हानि होगी। अतः अच्छी शिक्षा, अच्छी बातें, अन्यत्र कहीं से ली जायें, तो कोई आपत्ति नहीं, किन्तु उनका भारतीयकरण होना तो आवश्यक है। शिक्षितों का परानुकरण अथवा अशिक्षितों का अंधविश्वास से प्रेरित मूढ़ कार्य एक ही बात है।

एक समय था जब राम ने जीवन की मर्यादाओं की रक्षा करते हुए आदर्श-जीवन हमारे सामने रखा, किन्तु हमने अन्धश्रद्धावश मूर्ति-रूप में पूजा

अथवा राम-नाम जप ही शुरू कर दिया। कभी कृष्ण ने हमें पुरुषार्थमय जीवन का आदर्श दिया, गीता का कल्याणकारी ग्रन्थ दिया, किन्तु हमने क्या अपनाया? केवल तोते की तरह गीता-पाठ। बुद्ध ने नर से नारायण होने की बात कही, पर उन आदर्शों को हमने कहाँ अपनाया? महावीर ने सत्य, अहिंसा व त्याग का उपदेश किया, किन्तु हमने उन उपदेशों का ही त्याग किया। जिस निस्पृह महान् आत्मा ने मोह-माया से दूर त्यागमय जीवन बिताया, हमने उसके नाम पर उसकी सोने की मूर्तियाँ बनाई व माया से लाद दिया। युग-पुरुष विश्ववंद्य बापू ने लंगोटी व चादर से सादगी का पाठ पढ़ाया, किन्तु वह भी हमें कहाँ याद रहा है? हमारे दिल में उनके प्रति श्रद्धा में कमी नहीं, किन्तु उनकी बात सुनने को कान बन्द रखे, जीवन में कभी उनके उपदेश अपनाने की कोशिश नहीं की।

यह कब तक चलेगा? यदि हमें अपने राष्ट्र के कल्याण की वास्तविक चाह है, तो हमें उपदेश नहीं स्वयं आदर्श-जीवन का व्रत लेना होगा। हमें व्यर्थ बातें नहीं, अनिवार्यतः कठिन परिश्रम से अपना मार्ग बनाना होगा। आज हम जानते हुए भी अनजान की तरह हैं, जागते हुए सोने का उपक्रम कर रहे हैं, कोई जगाए भी तो जागने को तैयार नहीं, यह स्थिति बदलनी होगी। जो नहीं जानते हैं, उन्हें जानना होगा। जो जानते हैं, उन्हें उसे जीवन में उतारना होगा। उठो, और आवाज़ दो—हम जागृत हैं।

नयी कविता में सौन्दर्य-बोध

●

गरगपतिलाल शर्मा

प्रकृति, मानव-जीवन तथा ललित-कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है। 'सौन्दर्य' शब्द का वैयुत्पत्तिक अर्थ ही है भली-भाँति आर्द्र करने वाला, कैंची की तरह काटने वाला तथा जीवन या आनन्द देने वाला, अतएव आर्द्र करने वाला सौन्दर्य 'सरस' ही होगा, यही भारतीय कल्पना है।[1] 'सौन्दर्य क्या है?' इस प्रश्न के साथ एक दूसरा प्रश्न जुड़ा हुआ है 'सौन्दर्य कहाँ है—दर्शक श्रोता या पाठक के मन में अथवा उससे भिन्न सुन्दर वस्तु में?' कैरिट के मत से, 'सौन्दर्य गोचर वस्तुओं में नहीं होता वरन् उनके महत्व पर निर्भर होता है, और भिन्न-भिन्न पुरुषों के लिए उनका महत्व भी भिन्न-भिन्न होगा, सम्भवतः बहुत ही भिन्न कोटि के लोगों के लिए यह महत्व भिन्न कोटि का होगा।' इसका अभिप्राय यह हुआ कि सौन्दर्य की सत्ता वस्तुगत न होकर आत्मगत होती है। परन्तु इस प्रकार के भाववादी दार्शनिकों को लक्ष्य करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था 'सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है।' *यूरोपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या* बड़ी दूर की कड़ी समझी गयी है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़-झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीर-कर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक सौन्दर्य कोई नहीं।' परन्तु क्या कारण है कि माँ को अपना बच्चा सुन्दर लगता है जबकि दूसरों के लिए वह एक साधारण बालक के समान है? अपने देश के पहाड़ हमें सुन्दर लगते हैं, किन्तु दूसरों के लिए वे साधारण पर्वत मात्र हैं। सौन्दर्य की अनुभूति इतनी व्यक्तिगत है कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सुन्दर अथवा असुन्दर

१. डॉ० खण्डेलवाल 'आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य' पृ० १६० तक।

ट्रांजिस्टर, रिकार्डप्लेयर
कैक्टस, एण्टिक हैं।

इसी प्रकार कुछ नयी अर्थ-सृष्टि करने वाले प्रतीक सिगरेट, कुचली तौलियाँ, राख, वर्फ, कुहासा, सागर, दरारें, खाईयाँ आदि हैं, जिन्होंने जीवन के प्रगति-पतन, शान्ति-संघर्ष तथा विषाद-आह्लाद को अभिव्यक्त किया है।

नयी कविता में सौन्दर्य देखने के लिए हमें प्राचीन शब्दों को नये सन्दर्भों में देखना होगा। वैज्ञानिक तथा सामाजिक परिवर्तन के कारण जिन नये शब्द-रूपों का अन्वेषण हुआ है, उनसे हमें परिचित होना पड़ेगा। नयी कविता की शैली में जो चित्रात्मकता, प्रतीकात्मकता एवं पाठक की प्रबुद्धता को झकझोर देने वाली बिम्ब–संरचना तथा अर्थ-मार्मिकता है, उसे समझना होगा। नये कवि ने आधुनिकता को परखा है, उसने समझा है कि आज का युग अंतरिक्ष-अभियान तथा वैज्ञानिक-अनुसंधान का युग ही नहीं है, अपितु सामाजिक विषमताओं, विकृतियों, विसंगतियों, नग्नताओं तथा मनोवैज्ञानिक चीखों का युग भी है। एक ओर अणु अस्त्रों की छाया में उसकी भावनाएँ अकाल मृत्यु अथवा असुरक्षित जीवन से ग्रसित हैं, तो दूसरी ओर वह स्वार्थ-लिप्सा, कुंठा, निराशा, अविश्वास, मूल्यों के उलझाव तथा वीरान इरादों की अकर्मण्यता के बोझ से दवा हुआ है। नये कवि के रक्त में 'बीट जेनरेशन' तथा 'भूखी पीढ़ी' प्रवाहित है। कुछ उदाहरण देखिये :

'बीटनिक जनरेशन'

'मैं फिर यहीं वापस आगया हूँ'—यान्त्रिक
भ्रम की अनुभूति अपने मूढ़ भाग्य पर लौट
आई है—क्षुद्र विजय-संगीत के साथ—
मैं छोड़ देता हूँ
भयंकर वास्तविकता के अनन्त समकालिक
रूपाकारों के आभास जो गलती से प्रकट होकर
'कुछ नहीं' के मूर्खतापूर्ण चेतना-प्रदेशों में
छूट गये हैं
शून्य के बन्द होते गर्दभ—छिद्र में लुप्त
होते हुए 'रुको' का चिह्न जो चक्कर खाकर
आँख के आकार में सामने ठहर जाता है—
मुझे आँख मारता है और हम लुप्त हो जाते हैं।

(एलेन जिन्सबर्ग)

इस
सारे
व्यक्तित्व
प्रदर्शन
के नीचे छिपा ककाल

× × × ×

रातो रात उसके नृत्यों का
पीपे भर भर शराबों का
जो उसके गले से उतर गई
ह ' '''''ड्डिड' ''' 'माँ
कब्र में वह
सड़ता है
कीड़े उसे
खाते रहते हैं।
(जैक केरुएक)

'भूखी पीढ़ी'

अंधेरे मे खाने दो--सभी की यही इच्छा है
पता क्या है, फल है या मिठाई या शराब--
वयस्का, मुग्धा या प्रौढा, सिद्ध-यौवना
किन्तु हाय मेरी रसना
प्रणय-प्रसग के पहले ही हो गयी रूप,
गन्ध, रस से मूर्च्छित जड। (विनय मजुमदार)

मैंने उसे चूम कर देखा है। नही है यश,
अर्थ नही, सम्मान भी नही केवल
गर्म सलाखों का चिरस्थायी आलिंगन—
और थकी हुई, उदास वेश्याओं के प्रति
एकान्त मोह-मुक्त मे। (शक्ति चट्टोपाध्याय)

चित्रकला का आज की कविता पर स्पष्ट प्रभाव है और उससे कविता में जिस सौन्दर्य की उपलब्धि हुई है, उसे निम्न उदाहरणों से सहज ही अनुभव किया जा सकता है :

अथवा राम-नाम जप ही शुरु
का आदर्श दिया, गीता का
अपनाया ? केवल तोते की तर
बात कही, पर उन आदर्शों को
व त्याग का उपदेश दिया, कि
निस्पृह महान् आत्मा ने मोह-
नाम पर उसकी सोने की
विश्ववंद्य बापू ने लंगोटी व न
कहाँ याद रहा है ? हमारे दि
बात सुनने को कान बन्द रखे
नहीं की ।

यह कब तक चले
चाह है, तो हमें उपदेश नही
बातें नहीं, अनिवार्यतः कठि
जानते हुए भी अनजान
कोई जगाए भी तो जागने
जानते हैं, उन्हें जानना
होगा । उठो, और आव

आवश्यकता है ? प्रस्तुत उदाहरणों से अभिव्यक्ति की सशक्तता स्पष्ट हो जायेगी :

अस्पतालों के बिस्तर हर दिन बदलते हैं,
मगर लाइब्रेरी में दर्शन के शेल्फ नहीं बदलते ।
× × ×
चुक गया है फासफोरस अस्थियों का । (कैलाश वाजपेयी)

देह कुसुमित मृणाल,
जैसे गेहूँ की बाल ।
× × ×
वत्सल छाती सी पहाड़ियाँ
दूध पिलाने आतुरा,
बच्चे सा सूरज सो जाता
लेकर मुँह में आँचरा । (गिरिजाकुमार माथुर)

केंचुल से बन्द काले नाग-सा
अंधा हूँ, विष मेरा—
चूस लिया है अपने होठों से
किसी श्वेत नागिन ने :
चाहूँ तो डस भी नहीं सकता हूँ
उसको या जिसे-तिसे । (जगदीश गुप्त)

एक बस्ती, जैसे मछलियों की
कभी-कभी सर्द पैवन्द
रिक्तता की गीली अंगुलियाँ, शून्य का जकड़ता पंजा,
उसके प्यार के प्रवाह में बर्फीले पैवन्द । (जार्ज केट, लंका)

नयी कविता की शक्ति उसके प्रतीकों में है । कैलाश वाजपेयी की कविता 'समझदार लोगों की कविता' में कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं । इनमें नयी कविता में उपयोग में आने वाले कुछ प्रतीक देखिये :

तुम्हारी खुशी किसी सजे ड्राइंग रूम में बन्द है
ड्राइंग रूम जिसमें
सोफा है — परदे हैं ।

लगती है। वस्तुतः सौन्दर्य एक संश्लिष्ट इकाई है, जो मनुष्य के मन में भी है और प्रकृति में भी। उसकी अनुभूति व्यक्तिगत होती है और सामाजिक भी। भाव-जगत् व्यक्ति के मन में ही होता है, किन्तु उसका परिष्कृत एवं समृद्ध रूप सामाजिक-विकास और सामाजिक-जीवन से सम्भव हुआ है।

इस सौन्दर्य का कविता से क्या सम्बन्ध है, हमें अब इस पर विचार करना होगा। काव्यालोचन के क्षेत्र में सत्यं, शिवं और सुन्दरं का अत्यधिक प्रयोग होता आया है। सत्यं एवं सुन्दरं को अखण्ड तथा एक ही माना जाता रहा है। अंग्रेजी कवि कीट्स ने भी (ब्यूटी ट्रुथ ट्रुथ ब्यूटी) सौन्दर्य को सत्य एवं सत्य को ही सौन्दर्य माना है। 'रम्याणि वीक्ष्य निशम्य मधुरांश्च शब्दान्' वाले प्रसिद्ध श्लोक में कालिदास ने सौन्दर्य को मानव की वासना से जोड़कर रसधर्मी बना दिया है। डॉ० नगेन्द्र ने भी अपने नव-प्रकाशित ग्रन्थ 'रस सिद्धान्त' में 'सरस' तथा 'सुन्दर' दोनों एक ही हैं—इस बात को माना है। उन्होंने रस की परिभाषा इस प्रकार की है : 'शब्दार्थ के माध्यम से, विशुद्ध भाव-भूमिका में आत्म-चैत्य के (आनन्दमय) आस्वाद का नाम रस है।'

किन्तु रसबोध आज एक जटिल व्यापार है, वह एक साथ अनेक स्तरों पर कार्य करता है और अनेक तत्त्वों से प्रभावित होता है। साम्प्रतिक स्तर की बात ली जाय, तो कितने ही तत्त्व हो सकते हैं। आर्थिक विपन्नता किन्तु सम्पन्नता के लिए प्रयास, जनतान्त्रिक भावना किन्तु उसकी उचित अभिव्यक्ति का अभाव, व्यापक सार्वजनिक शिक्षा किन्तु शिक्षा में लक्ष्य का अभाव; फिल्म, अखबार, रेडियो आदि अनेकों ऐसे तत्त्व हैं, जो पाठक की रसज्ञता के स्तर को बदल देते हैं। अतः समय की गति के साथ मनुष्य को ज्यों-ज्यों बाह्य तत्त्वों की अधिक जानकारी होती गयी, त्यों-त्यों उसका अन्तर्जगत भी उतना ही विकसित होता गया। पुराने मूल्यों के प्रति उसकी आस्था घटती गई एवं वैज्ञानिक उन्नति तथा जीवन की व्यस्तता के नये मूल्यों के प्रति खोज के लिए उसे बाध्य किया। कलाकार की जीवन-दृष्टि में भी परिवर्तन आया और साथ ही साथ उसकी भाषा, प्रतीक एवं बिम्ब योजना में भी। कविता की परम्परागत नियमानुकूल छन्दोबद्धता एवं अलंकार-विधान नष्ट होता गया और उसमें यथार्थ तथा बौद्धिक अभिव्यक्ति को प्राधान्य दिया जाने लगा।

अतः हम समझ सकते हैं कि नयी कविता का सौन्दर्य नियमित तुकों में नहीं है, बल्कि उसके अर्थ की मार्मिकता में है। रूप का अस्तित्व उसके सत्य में है, उसके अलंकार में नहीं। 'मेकअप' की आवश्यकता तो वास्तव में कुरूपता को रहती है। अभिव्यक्ति की सशक्तता के लिए बाह्य परिधान की क्या

आवश्यकता है ? प्रस्तुत उदाहरणों से अभिव्यक्ति की सशक्तता स्पष्ट हो जायेगी :

अस्पतालों के बिस्तर हर दिन बदलते हैं,
मगर लाइब्रेरी में दर्शन के शेल्फ नहीं बदलते ।
× × ×
चुक गया है फासफोरस अस्थियों का । (कैलाश वाजपेयी)

देह कुसुमित मृणाल,
जैसे गेहूँ की बाल ।
× × ×
वत्सल छाती सी पहाड़ियाँ
दूध पिलाने आतुरा,
बच्चे सा सूरज सो जाता
लेकर मुँह में आँवरा । (गिरिजाकुमार माथुर)

केंचुल से बन्द काले नाग-सा
बंधा हूँ, विष मेरा—
चूस लिया है अपने होठों से
किसी श्वेत नागिन ने .
चाहूँ तो डस भी नहीं सकता हूँ
उसको या जिसे-तिसे । (जगदीश गुप्त)

एक बस्ती, जैसे मछलियों की
कभी-कभी सर्द पैबन्द
रिक्तता की गीली अंगुलियाँ, शून्य का जकड़ता पंजा,
उसके प्यार के प्रवाह में बर्फीले पैबन्द । (जार्ज कैट, लंका)

नयी कविता की शक्ति उसके प्रतीकों में है । कैलाश वाजपेयी की कविता 'समझदार लोगों की कविता' से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं। इनमें नयी कविता में उपयोग में आने वाले कुछ प्रतीक देखिये :

तुम्हारी खुशी किसी सजे ड्राइंग रूम में बन्द है
ड्राइंग रूम जिसमें
सोफा है — परदे हैं ।

ट्रांजिस्टर, रिकार्डप्लेयर
कैक्टस, एण्टिक हैं।

इसी प्रकार कुछ नयी अर्थ-सृष्टि करने वाले प्रतीक सिगरेट, कुचली तीलियाँ, राख, वर्फ, कुहासा, सागर, दरारें, खाईयाँ आदि हैं, जिन्होंने जीवन के प्रगति-पतन, शान्ति-संघर्ष तथा विषाद-आह्लाद को अभिव्यक्त किया है।

नयी कविता में सौन्दर्य देखने के लिए हमें प्राचीन शब्दों को नये सन्दर्भों में देखना होगा। वैज्ञानिक तथा सामाजिक परिवर्तन के कारण जिन नये शब्द-रूपों का अन्वेषण हुआ है, उनसे हमें परिचित होना पड़ेगा। नयी कविता की शैली में जो चित्रात्मकता, प्रतीकात्मकता एवं पाठक की प्रबुद्धता को झकझोर देने वाली बिम्ब-संरचना तथा अर्थ-मार्मिकता है, उसे समझना होगा। नये कवि ने आधुनिकता को परखा है, उसने समझा है कि आज का युग अंतरिक्ष-अभियान तथा वैज्ञानिक-अनुसंधान का युग ही नहीं है, अपितु सामाजिक विषमताओं, विकृतियों, विसंगतियों, नग्नताओं तथा मनोवैज्ञानिक चीखों का युग भी है। एक ओर अणु अस्त्रों की छाया में उसकी भावनाएँ अकाल मृत्यु अथवा असुरक्षित जीवन से ग्रसित हैं, तो दूसरी ओर वह स्वार्थ-लिप्सा, कुंठा, निराशा, अविश्वास, मूल्यों के उलझाव तथा वीरान इरादों की अकर्मण्यता के बोझ से दबा हुआ है। नये कवि के रक्त में 'बीट जेनरेशन' तथा 'भूखी पीढ़ी' प्रवाहित है। कुछ उदाहरण देखिये :

'बीटनिक जनरेशन'

'मैं फिर यहीं वापस आगया हूँ'—यान्त्रिक
भ्रम की अनुभूति अपने मूढ़ भाग्य पर लौट
आई है—क्षुद्र विजय-संगीत के साथ—
मैं छोड़ देता हूँ
भयंकर वास्तविकता के अनन्त समकालिक
रूपाकारों के आभास जो गलती से प्रकट होकर
'कुछ नहीं' के मूर्खतापूर्ण चेतना-प्रदेशों में
छूट गये हैं
शून्य के वन्द होते गर्दभ—छिद्र में लुप्त
होते हुए 'रुको' का चिह्न जो चक्कर खाकर
आँख के आकार में सामने ठहर जाता है—
मुझे आँख मारता है और हम लुप्त हो जाते हैं।

(एलेन जिन्सवर्ग)

इस
सारे
व्यक्तित्व
प्रदर्शन
के नीचे छिपा कंकाल

× × × ×

रातों रात उसके नृत्यों का
पीपे भर भर शराबों का
जो उसके गले से उतर गई
ह'.....ड्डि".. माँ
कब्र मे वह
सड़ता है
कीड़े उसे
खाते रहते हैं।
(जैक केरुएक)

'भूखी पीढ़ी'

अंधेरे मे खाने दो—सभी की यही इच्छा है
पता क्या है, फल है या मिठाई या शराब—
वयस्का, मुग्धा या प्रौढा, सिद्ध-यौवना
किन्तु हाय मेरी रसना
प्रणय-प्रसग के पहले ही हो गयी स्थ,
गन्ध, रस से मूर्च्छित जड़। (विनय मजुमदार)

मैंने उसे घूम कर देखा है। नही है यश,
अर्थ नही, सम्मान भी नही केवल
गर्म सलाखों का चिरस्थायी आलिंगन—
और थकी हुई, उदास वेश्याओं के प्रति
एकान्त मोह-मुक्त मे। (शक्ति चट्टोपाध्याय)

चित्रकला का आज की कविता पर स्पष्ट प्रभाव है और उससे कविता में जिस सौन्दर्य की उपलब्धि हुई है, उसे निम्न उदाहरणों से सहज ही अनुभव किया जा सकता है :

काठ के पैर
ठूँठ-सा तन
गाँठ-सा कठिन गोल चेहरा ।

× × ×

पेड़ में एक मानवी रूप
मानवी रूप में एक ठूँठ (गजानन्द माधव मुक्तिबोध)

दुबले-पतले मानव के उक्त स्वरूप के चित्रोपम सौन्दर्य के साथ जगदीश गुप्त, जो वस्तुतः सफल एवं योग्य चित्रकार हैं, की रचना से उदाहरण लीजिये :

जल्दी से कंघी कर
जूड़े में चाँद खोंस
उलझे बालों के गुच्छे लपेट
फेंक दिये खिड़की से जो काली रात ने ।

× × ×

पर्वतों के बीच
बहती नदी का आवेग
जैसे—
अश्रु बन कर बिखरने से पूर्व
हड्डियों को ठकठकाता हुआ
कोई दर्द
रिक्त मन की घाटियों को
चीर जाये ।

नयी कविता का स्वरूप कभी-कभी इतना छोटा होता है कि साधारण पाठक के लिए यह सहज सम्भाव्य नहीं है कि वह कविता के अर्थ की मार्मिकता एवं भाव-सौन्दर्य का आनन्द ले सके। कवि के लिए भी यह सम्भव नहीं है कि इतने छोटे स्वरूप में वह पाठक के लिए परम्परागत सौन्दर्य की उपलब्धि करा सके। इतिहास जहाँ मोड़ ले रहा हो, वहाँ हमें नयी कविता की सृजन-प्रक्रिया का गहराई से अध्ययन करना पड़ेगा। नये कवि के द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले नवीन बिम्बों, निराले रूपकों एवं उपमाओं तथा विभिन्न प्रकार के संगीत की ताल एवं लय को समझना पड़ेगा। यदि पाठक नये परिवेश में जीता है, तो उसे सहज एवं यथार्थ शब्दों में भी किसी न किसी चित्तवृत्ति को

साक्षात् करने वाला सौन्दर्य-बोध हो सकेगा। यथार्थ में भी सौन्दर्य है, सीधा एवं सरल कथन भी आकर्षक हो सकता है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यह समझने पर नयी कविता में रस, रचना एवं शब्द-सौन्दर्य का बोध भी किया जा सकेगा। 'तीसरा सप्तक' में कीर्ति चौधरी लिखती हैं: 'नयी कविता मात्र नये विषयों पर लिखी जाती है या पहले के विषयों को नये ढंग से कहना चाहती है। वह सशक्त अथवा लयहीन मुक्त छंद में होती है। प्राय: शिथिलता कभी-कभी सुनिश्चित गठन वाली होती है। सीधा शिथिलता और सहजता भी उसके गुण ही हैं। श्री गिरिजाकुमार माथुर की स्थापना है कि कविता के लिए किसी अभिव्यक्त लय (मेनीफेस्ट रिद्म) की आवश्यकता नहीं है, जैसा कि अभी तक समझा जाता रहा है, बल्कि ध्वन्यात्मकता उसका प्रधान गुण है, जो शब्द-ध्वनियों की क्रमसंहिति और सामंजस्य पर आधारित है तथा कविता में स्वत: ही (लेटेंट रिद्म) निहित होती है, जो रचना-प्रक्रिया के अन्त में सामंजस्य-क्रम (टोन सीक्वेंस) से प्राप्त होती है। अत: कविता में बाहर से आरोपित किसी भी अभिव्यक्त लय की आवश्यकता नहीं है। इस संदर्भ में कुछ कविताओं के उदाहरण देना उचित होगा

दाम्पत्य जीवन

सुराही से निकलती आवाज
पलंग की चरमराहट
दूध के लिए गिलासों की खनक
''''''कितना व्यवस्थित दाम्पत्य जीवन है
पड़ोसी का।

शिशु का जन्म

कल रात मुझ में उग आये दो पेड़
कैक्टस और गुलाब;
दो छोटे-छोटे हाथ
दरवाजा थपथपाते रहे।

(जगदीश चतुर्वेदी)

सत्य:

चारों तरफ शान्त स्थिर बर्फ का विस्तार
चिल्ला-चिल्ला कर यह सत्य घोषित कर रहा है

कि अब कहने को—यह नग्नसत्य
कुछ भी शेप नहीं है ।

(बॉब डाउनिंग, कनाडियन)

समुद्र :

आसमान की स्लेट पर
एक 'सीगल' अ ब स लिखती है ।
समुद्र भूरा घासीला मैदान
और सफेद लहरें भेड़ों का झुण्ड है
जहाज टहलता है
पाइप सुलगाते हुए
जहाज टहलता है
एक धुन बजाते हुए ।

(डाइगाइ होरी गुची, जापानी)

चाँद :

आकाश की कक्षा में
बैठे हैं बेशुमार
अनुशासनहीन बच्चे
क्रोधित मुद्रा में
टहलता है चाँद
क्या करें ।

शहर :

सभ्यता की गाय ने
कर दिया है गोबर
शहर ।

(नारायणलाल परमार)

अतः स्पष्ट है कि नयी कविता की उक्त सभी क्रियाओं में पाठक सौन्दर्य-बोध की प्राप्ति कर सकता है, बशर्ते कि समकालीन काव्य-सौन्दर्य के तत्त्वों का उसे ज्ञान हो एवं उनके प्रति उसकी रुचि हो ।

मूल्य - दशा - दिशा - सम्भावना

श्रीकृष्ण बिश्नोई

साहित्य के सन्दर्भ में 'मानव-मूल्य' की जितनी परिभाषाएँ दी गई, यह शब्द उतना ही ज्यादा उलझनपूर्ण बनता गया। मूल्य को मान्यता, धारणा, व्यवस्था, पूर्वाग्रह, प्रतिबद्धता जैसे अनेको भिन्नार्थी शब्दो से व्यंजित करने का विभिन्न विद्वानो ने प्रयास किया है।

मूल्य की जन्मदात्री इच्छा है। अलग-अलग क्षेत्रो मे विभिन्न स्तरो पर इच्छा जैसे अनेको रूप धारण करती है, वैसे ही मूल्यो का क्षेत्र व्यापक बनता जाता है। सम्पूर्ण मानव-जीवन इसका विस्तार-क्षेत्र है।

यह दो पहलुओ मे व्यंजित है—साधन-मूल्य और साध्य-मूल्य। तदनुपरान्त आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, कलात्मक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक जैसे अनेको कटघरो मे खड़ा होकर मूल्य अनेक रूप धारण करता है। मूलत· मूल्य की धारणा एक ही है।

मूल्यो के सम्बन्ध मे कुछ लोग आस्तिक हैं, कुछ सन्देहवादी, कुछ तटस्थ और कुछ इन्हे पूर्णत. अस्वीकारते हैं। शून्यवादियो की अस्वीकृति मे भी मूल्य के होने की ध्वनि प्रकट होती है। उनका तर्क है 'मूल्यो का कोई निश्चित स्वरूप नही हो सकता। इसी सन्दर्भ मे मूल्य शून्य है। वास्तविक जगत मे जब मूल्य कोई स्वरूप धारण करता है, तब वह मूल्य नहीं, वास्तविक स्थिति बन जाता है।' मेरे विचार मे यह मूल्य को स्वीकारने का परोक्ष मार्ग मात्र है।

जो मूल्यो को अस्वीकारते हैं, उनकी दृष्टि मे साहित्य, संस्कृति, धर्म, सामाजिकता आदि की सार्थकता उनकी प्रतिबद्धता मे निहित है। किसी विचार, जीवन-दर्शन अथवा स्थिति के प्रति पूर्वधारणा बनाकर चलना 'रीजन' कारण से दूर होना है। मूल्यों के मूल्यांकन मे यह बाधा-स्वरूप है। बिना किसी पूर्वाग्रह के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही मूल्यो को परखना संगत है। विषय के

प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोणजन्य तटस्थता वास्तविक मूल्यांकन की अनिवार्यता है।

मूल्यों के सम्बन्ध में यह आम विवाद प्रचलित है कि मूल्य व्यक्तिगत (सब्जेक्टिव) है या मूल्य वस्तुगत (ऑब्जेक्टिव) है, परन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर लगता है, मूल्य न व्यक्तिगत है और न ही वस्तुगत। केवल व्यक्ति-मात्र के लिए मूल्य का कोई अर्थ नहीं है, और न ही केवल वस्तु के लिए मूल्य का कोई अर्थ है। मूल्य वास्तव में पारस्परिक सम्बन्ध में निहित है। व्यक्ति और वस्तु दोनों के संसर्ग से ही मूल्य की धारणा बनती है। दोनों के मेल से उत्पन्न स्थिति मूल्य का रूप धारण करती है।

यह व्यक्ति एवं वस्तु का आपसी घात-प्रतिघात, आपसी सम्बन्ध देश-काल सापेक्ष है। जैसे जीवन एक प्रक्रिया (प्रासेस) है, उसी तरह व्यक्ति तथा वस्तु का आपसी सम्बन्ध एक बदलती हुई प्रक्रिया है।

यदि मूल्यों को एक प्रक्रिया मान लिया जाय तब वर्तमान युग में, मूल्य-ह्रास और उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप इस उच्छृंखलता या नैराश्य को क्या कहा जाय? आज सब तरफ यह स्वर सुनाई देता है, जो कुछ सीमा तक वास्तविक भी है, कि आज के मानव में संत्रास है, वह भय, निराशा और मायूसी में डूब गया है। उसे हर रास्ता मौत की तरफ बढ़ता दिखाई दे रहा है। और जो लोग इस स्थिति को अनुभव नहीं करते, वे पुरानी परम्परावादी पीढ़ी के अवशेष हैं, ग्रामीण-सभ्यता के भोक्ता हैं, सामन्ती-परम्परा की पैदाइश हैं। शहरी-सभ्यता ने मानव में बेगानापन, टूटन, अलगाव, घुटन, निरुद्देश्यता को पनपाया है। बड़े-बड़े शहरों में घटने वाली आत्महत्या और पागलपन की घटनाएँ इसका प्रमाण हैं।

प्रश्न उठता है, यह सब क्यों? किसलिए? और इसका उत्तर वर्तमान वैज्ञानिक युग की सार्वभौमता, अप्रत्याशित विकास, जीवन के कुछ क्षेत्रों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण। शेष में परम्परावादी सामन्ती-सभ्यता से जुड़ाव या ग्रामीण-जीवन और शहरी-सभ्यता की गहरी दरार में ढूंढा जा सकता है।

भारतीय समाज में सामन्ती व्यवस्था का स्थान प्रजातान्त्रिक व्यवस्था ने लिया, किन्तु एकांगी क्षेत्र में अधिकार का स्वर इतनी तीव्रता से प्रकट हुआ कि कर्त्तव्य की आवाज़ दब गई। सामन्ती व्यवस्था के आधार-स्तम्भ परिवार टूट गये। पिता-माता-भाई-पत्नी की पुरानी मान्यताएँ बदल गईं। प्रजातन्त्र ने नयी व्यवस्था दी—पिता पुत्र दोनों बराबर हैं—समान अधिकारी हैं। नयी व्यवस्था ने निस्वार्थ प्रेम तथा सम्वेदना को अस्वीकारा, स्वार्थ और उपयोगिता को मान्यता दी।

वैज्ञानिक प्रगति और दो महायुद्धों के बाद जन्मी प्रजातान्त्रिक व्यवस्था ने बाजार, होटल, हॉस्टल, ऑफिस, बैरक, जुलूस जैसी कुछ नवीन संस्थाओं को जन्म दिया। इस परिवर्तन के फलस्वरूप सामन्ती परम्परा की अच्छाइयाँ-संवेदना, निस्वार्थ-भावना, कर्तव्यपरायणता—नाम होगईं और उसकी बुराइयाँ ज्यों की त्यों बनी रहीं। वह बुराई थी आर्थिक असमानता और उससे फलस्वरूप उत्पन्न मानव-मानव में भेद, मनुष्य को धन या अधिकार की दृष्टि से तोलने की भौंडी व्यवस्था—एक तरफ सामन्ती परम्परा की बुराइयों को नवीनता के नाम पर स्वीकृति और उसकी अच्छाइयों को पुराने के नाम पर अस्वीकृति-इस निराशा और टूटन का मुख्य कारण जान पड़ते हैं। वर्तमान पीढ़ी को इसी दरार ने मर्माहत किया है। ऐसा लगता है, यह मूल्यों सम्बन्धी धुंधलापन और एक तरह की 'एपेथी' इसी असंगति का कारण है। मैं समझता हूँ, हर तेजी से बदलने वाले युग को कुछ ऐसी समस्याओं का अवश्य सामना करना पड़ता है।

फिर से परिवार, सम्प्रदाय, जाति, देश, धर्म सम्बन्धी मूल्यों को नहीं थोपा जा सकता। अब इनका राग अलापना हर पुरानी व्यवस्था के प्रति भावना-मात्र है। नये मूल्यों को स्वस्थ पोषण देने के लिए आर्थिक व्यवस्था में सामन्तीपन मिटाना आवश्यक है। आज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का स्थान अरबपति, करोड़पति, लखपति, और भूखे मजदूरों ने ले लिया है, वास्तविक समस्या जहाँ की तहाँ खड़ी है। इन नये सम्प्रदायों को खत्म करना अति आवश्यक है, अन्यथा व्यक्ति सबसे टूट कर मूल्यहीनता के बोध में या तो आत्महत्या करेगा या पागल हो जायेगा।

यह मूल्यों के प्रति अनास्था और उनका अभाव सम्पूर्ण जीवन को वियावान बनाने का कारण बन रहे हैं। विज्ञान ने पुरानी मान्यताओं को तो तोड़ा, पर जीवन के प्रति किसी नयी दृष्टि ने जन्म नहीं लिया। जहाँ तक लक्ष्य का प्रश्न है, प्रायः सम्पूर्ण मानव-समाज उद्देश्यहीनता की ओर बढ़ रहा है। मूल्यों के प्रति या तो वह शंकित है, या फिर भ्रमित।

पूँजीवाद केवल आर्थिक मूल्य को महत्त्व देता है। यदि वे कभी ईश्वर को याद भी करते हैं, तो इसी आशय से कि उनकी स्थिति बनी रहे, धन की सुरक्षा हो। मध्य-वर्ग जो समाज में परिवर्तन लाने वाला है, शिक्षित है, साहित्य का सृजक और भोक्ता है, उसे किसी में आस्था नहीं। पूँजी-पतियों से वह घृणा करता है, या लाचारी में उनके आगे झुकता है, निम्नवर्ग से वह उपेक्षा करता है, या उसे सहानुभूति देता है। साहित्य में यह मध्य-वर्ग ही आजकल व्यक्त हो रहा है। निम्नवर्ग उन मान्यताओं में जकड़ा है, जो व्यर्थ सिद्ध हो चुकी हैं,

वह यदि धर्म को भी स्वीकारता है, तो मजबूरन। यद्यपि संसार के अन्य देशों में मूल्य सम्बन्धी अनेकों और समस्याएँ हैं, परन्तु भारत में अभी यही आर्थिक आधार पर बनी सामन्ती परम्परा रोग की जड़ है।

प्रेम, करुणा, दया, नैतिकता, आदर्श—इन सबने अपना अर्थ खो दिया है, ये आउट ऑफ डेट सिक्के या बाँट हैं, इनकी जगह नये सिक्कों की आवश्यकता है।

मानवीय संवेदना का विकास हो, व्यक्ति भीड़ में नहीं खोये, हर मिलने वाले दूसरे व्यक्ति को अपना समझे। वह किसी का न होकर सबका बन जाये। इसी में उसका त्राण है।

मूल्यों के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास की आवश्यकता है। पूर्णतः मुक्त होकर 'रीजन' के आधार पर निर्णय लेना वैज्ञानिक दृष्टिकोण में शामिल है। पूर्व-धारणाओं से बिना मुक्त हुए यह सम्भव नहीं है। समाज, साहित्य, धर्म, संस्कृति—इन सबका दृष्टिकोण प्रतिबद्धता से आक्रान्त है।

जीवन-लक्ष्य का अभाव या भटकाव इन तमाम विसंगतियों की जड़ है। पानी का लम्बे अर्से तक अभाव कुत्ते में हड़कपन उत्पन्न करता है, उसी तरह मानव में लम्बे काल तक उसकी इच्छा-पूर्ति का अभाव विद्रोह, पीड़ा, निराशा, टूटन पैदा करता है। आज मध्यम श्रेणी की प्रायः यही स्थिति है। क्योंकि उसे अपनी इच्छाओं का ज्ञान है और वह उन्हें पूर्ण नहीं कर पाता।

सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर हम पाते हैं, कि वर्तमान भारत में ज्यादातर साधन-मूल्यों पर लोगों का झुकाव है, जो अत्यन्त प्रारम्भिक और निम्न स्तर के मूल्य हैं। ये मूल्य है काम और अर्थ सम्बन्धी। काम पशु-स्तर का मूल्य है और अर्थ उपयोगितावादी सामन्ती परम्परा का स्वार्थ-गत आधार। काम ने हमारे युवकों में अनुत्तरदायित्व और कुंठा को जन्म दिया है। अर्थ ने लोगों में कृपणता, बेईमानी, होर्डिंग आदि की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है।

भ्रमरगीत : बुद्धि का चमत्कार या तन्मयताजन्य अभिव्यक्ति

वेदप्रकाश शर्मा

काव्य मे सूर-कृत उद्धव-गोपी संवाद ही भ्रमरगीत के नाम से पुकारा जाता है। कृष्ण जब मथुरा चले जाते हैं, गोपियाँ उनके विरह मे व्याकुल हो विलाप करने लगती है। अहर्निश वे कृष्ण के ध्यान मे ही मग्न रहती हैं। उन्हें सांत्वना देने के लिए कृष्ण अपने प्रिय सखा उद्धव को दूत बनाकर गोपियों के पास उन्हें समझाने भेजते हैं। गोपियाँ उद्धव के उपदेश से अप्रसन्न हो जाती हैं। निराकार ईश्वर की कल्पना मे उनका विश्वास नहीं। किन्तु उद्धव कृष्ण के मित्र हैं, उनके अतिथि हैं और भारतीय आचार-व्यवहार में अतिथि की बात का विरोध अथवा उसका अपमान अमान्य है। अतएव उनकी गति विचित्र है। वे न तो उद्धव को उपदेश देने से रोक सकती हैं और न उनकी बात का विरोध ही कर सकती हैं। लेकिन गोपियों को उद्धव के प्रति स्वय की प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करने का अवसर मिल ही जाता है। जिस समय उद्धव गोपियो को कृष्ण का सन्देश सुना रहे थे, उसी समय एक भ्रमर उड़ता हुआ वहाँ आ जाता है, उसी भँवरे को सम्बोधित कर गोपियाँ उद्धव को उपालम्भ देने लगती है। विरह से व्यथित प्रेम-विह्वला गोपियाँ नाना कटूक्तियो की बौछार से उद्धव का स्वागत करने लगती हैं और अपने अनन्य प्रेमपूर्ण तर्कों से उद्धव को सर्वथा निरुत्तर कर देती हैं। यही सम्वाद 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका भक्ति-साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान है।

भ्रमरगीत की परम्परा श्रीमद्भागवत मे चली आती है। यह कथा श्रीमद्भागवत के दशम् स्कन्ध के ४६ और ४७ वें श्लोक में मिलती है। उसी के आधार पर सूरदास के समकालीन अष्टछाप के कवि नन्ददास ने 'भवरदूत' लिखा। सूर ने भी उसी परम्परा के अनुसार अपने भ्रमरगीत की रचना की।

इसके पश्चात् इस प्रसंग को लेकर अन्य कवियों ने भी काव्य-रचना की है। इनमें मुख्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रींवा नरेश रघुराजसिंह आदि हैं। इस युग में सत्यनारायण कविरत्न ने नन्ददास की शैली को अपनाकर 'भ्रमरदूत' लिखा। कविवर जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी 'उद्धव शतक' लिखकर इस परम्परा का आधुनिक युग में निर्वाह किया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रिय प्रवास' में भी उद्धव और राधा का संवाद आया है।

सूर के भ्रमरगीत में न केवल गोपियों के प्रेम विह्वल विरही हृदय की व्यंजना हुई है, अपितु इस प्रसंग की संयोजना से सूर ने परोक्ष रूप में अपने दार्शनिक सिद्धान्त-विशेष की पुष्टि भी की है। दूसरे शब्दों में भावोद्गार के साथ-साथ भ्रमरगीत एक दर्शन भी है। अतः इसका विश्लेषण दोनों पक्षों को लेकर ही किया जाना अभीष्ट है।

वियोग पक्ष :

भ्रमरगीत एक विप्रलम्भ श्रृंगार-प्रधान काव्य है। सूर के संयोग श्रृंगार-वर्णन के समान यह वियोग भी अत्यन्त सुन्दर और स्वाभाविक है। वियोग की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं, उन सबका सूर ने अत्यन्त सरस व मार्मिक चित्रण किया है। रीतिकालीन आचार्यों द्वारा वर्णित वियोग की सभी एकादश, दशाओं, अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, मूर्छा आदि का सूर ने एक से बढ़कर एक चित्र प्रस्तुत किया है। इन मार्मिक चित्रों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास वियोग श्रृंगार से सम्बन्धित मनोविज्ञान के पूर्ण पण्डित थे। विरह की तीव्रता और गहनता इतनी अधिक हो जाती है कि अन्त में गोपियों का विरह देश काल से मुक्त होकर विश्वजनीन विरह के रूप में परिणत हो जाता है।

गोपियों के विरह में इतनी तीव्रता है कि समस्त प्राकृतिक उपकरण भी वियोग के रंग में रंगे दिखायी देते हैं। राधिका के कुंज के पक्षी अब नहीं चहचहाते। फूल विकसित नहीं होते मानो उन्हें भी वियोग की ज्वाला छू गई है। यहाँ तक कि पुष्पमालायें भी दहकती प्रतीत होती हैं।

'हरी बिन फूल झार से लागत, झरि-झरि परत अंगार।'

कुंज भी जैसे काटने दौड़ते हैं :

'बिन गोपाल बैरिन भयी कुंजे
तब ये लता लगति अतिशीतल, अब भयी विषम ज्वाल की पुंजै।'

उनकी अनुभूति-प्रवण विरह निवेदन में प्रियतम से मिलन की उत्कंठा, न आने के कारणों की उद्भावना व उनका समाधान, अतीत [illegible]

की क्षमा-याचना व अनुताप, सदेश भेजने की प्रबल व सतत लालसा, क्षण-क्षण का विरह निवेदन अपनी दशा का करुण उल्लेख, कृष्ण व कुब्जा के प्रति कटु उपालम्भ, प्रकृति के दृश्यो को देखकर उद्दीपन, उद्धव के निर्गुण ब्रह्म की भर्त्सना और अपने तर्कों से उसका खण्डन आदि अन्तर्दशाओ का चित्रण हुआ है। यह चित्रण बड़ा मार्मिक व एक विरहीं हृदय की सच्ची पुकार का प्रतीक है।

उपरोक्त अन्तर्दशाओं का चित्रण निम्न उद्धरणों मे स्पष्ट किया जाता है .

'फिर ब्रज बसहु गोकुल नाथ''' ''''''''
बहुरि तुम्हे न जगाय पठाऊ, गोधनन के साथ।'
'सखि री हरि आवहिं किस हेत,
वे हैं राजा तुम गर्वरि बुलावति, यही परेखो लेत'
'कहा लगि मानिये अपनी चूक
बिनु गोपाल उद्धो मेरी छाती रह न गई द्वौ टूक।'
'उद्धो इतनी कहियो जाय,
अति कृषगात भयी है तुम बिनु परम दुखियारी गाय।'
'निसी दिन बरसत नयन हमारे,
सदा रहति पावस ऋतु हम पे, जब तें स्याम सिधारे'
'उद्धो हम अति निपट अनाथ,
जैसे मधु तोरे की माखी, त्यों हम बिनु ब्रजनाथ'
'बरु वै कुब्जा भलो कियो,
प्रीति करि दीनो गरे छुरी.
जैसे बधिक चुगाय कपट कण, पाछे करत बुरि।'
'मधुवन तुम कत रहत हरे,
विरह वियोग स्याम सुन्दर के, ठाढ़े क्यो न जरे।'
'निर्गुण कौन देश को वासी,
मधुकर कह समुभाय, सोह दै बूझति साँच न हाँसि।'

अत इसके वियोग-पक्ष के अन्तर्गत गोपियों मे विरह व्याकुल हृदय की अत्यन्त मार्मिक व विदग्ध व्यञ्जना हुई है। गोपियाँ कृष्ण के प्रेम मे तल्लीन

भी उद्भूत हो चली थी। इसी प्रकार तत्कालीन वातावरण एक संघर्ष की क्रीड़ा-भूमि बन गया था। उस संक्रमणकाल में सूर ने भ्रमरगीत की रचना करके ज्ञान के शुष्क वेग को रोक कर एवं सगुण भक्ति की प्रतीष्ठा कर परम्परागत धार्मिक-भावना एवं विश्वास की नींव को सुदृढ़ किया। किन्तु भ्रमरगीत की भाव-पूर्ण रचना में सूर का प्रथम व अन्तिम लक्ष्य गोपियों की कृष्ण के प्रति उत्कट भक्ति एवं अगाध और उद्दाम प्रेम को ही मार्मिक अभिव्यञ्जना देना है।

सारांशतः भ्रमरगीत कवि की भावना के रस को उद्गीर्ण करता है—बुद्धि के गहन और व्यापक चमत्कार का प्रयास यहाँ नहीं है।

●

थीं। वे उद्धव के मुख से अपने परम आराध्य कृष्ण के स्थान पर निर्गुण ब्रह्म की प्रशंसा कदापि सहन नहीं कर सकती थीं। उनकी विदग्धता से कहीं-कहीं उक्तियाँ उहा एवं चमत्कार से पूर्ण हो गई हैं। गोपियों की इन प्रेम-भरी उक्तियों में परोक्ष रूप में सूर के ही विरही हृदय की पुकार है। सूर की गोपियों में जहाँ हृदय-वृत्ति प्रधान है, वहाँ नन्ददास की गोपियों में तर्कवृत्ति। नन्ददास की गोपियाँ जहाँ तर्कशील हैं, वहाँ सूर की गोपियाँ भावुक एवं प्रेम-विह्वल। प्रेम की अनन्यता ही उनका तर्क है। यही उनका आलम्बन। वस्तुतः समस्त हिन्दी साहित्य में ये उद्‌गार अपनी सरलता, मार्मिकता एवं तीव्रता में अपना सानी नहीं रखते।

दार्शनिक पक्ष :

विद्वानों का मत है कि भ्रमरगीत का वास्तविक उद्देश्य गोपियों का आत्म-निवेदन नहीं, बल्कि सूर के सगुण सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना है, क्योंकि वहाँ तो भागवत् में गोपियाँ उद्धव के उपदेश को मान ही लेती हैं। गोपियों द्वारा उद्धव का उपहास और निर्गुण की उपेक्षा का प्रश्न सूर की अपनी मौलिक उद्भावना है। यह कहना तो निश्चय ही अत्युक्ति होगी कि भ्रमरगीत का एकमात्र लक्ष्य सगुण की प्रतिष्ठा और निर्गुण का खण्डन है। ऐसा कहना न केवल सहृदय कवि के प्रति अन्याय है, बल्कि गोपियों के प्रति भी, जिनका प्रेम निश्छल, अटल और प्रगाढ़ था। सूर मूलतः एक कवि एवं भक्त थे, तार्किक या ज्ञानी नहीं। अपने इष्टदेव की लीलाओं में डूबना-उतरना ही उनके जीवन का चरम आनन्द था। भ्रमरगीत की नाना भावों से युक्त आसक्तिमूलक वियोग-धारा कृष्ण-प्रेम का रस लेकर प्रवाहित हुई है और उनका एकमात्र उद्देश्य कृष्ण की अनन्य प्रीति के पारावार में भगवद्-भक्त सहृदयों को निमग्न कर देना ही है, निर्गुण की प्रतिष्ठा नहीं। अतः इसे कवि का प्रधान लक्ष्य न कहकर सामयिक विचारधारा का आग्रह-मात्र समझना चाहिए। निर्गुण का प्रसंग भ्रमरगीत में एक सामयिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकता के कारण ही आया है। किन्तु चाहे जिस रूप में हो, इस प्रसंग की संयोजना से सूर ने निश्चय ही तत्कालीन समाज एवं भक्ति-भावना को एक नवीन दिशा प्रदान की है।

जिस समय सूर व तुलसी अपनी भक्ति-भावना के द्वारा भारतीय वाङ्मय को आप्लावित कर रहे थे, उस समय दूसरी ओर ज्ञान की शुष्क धारा

भी उद्भूत हो चली थी। इसी प्रकार तत्कालीन वातावरण एक संघर्ष की क्रीडा-भूमि बन गया था। उस संक्रमणकाल में सूर ने भ्रमरगीत की रचना करके ज्ञान के शुष्क वेग को रोक कर एवं सगुण भक्ति की प्रतीष्ठा कर परम्परागत धार्मिक-भावना एवं विश्वास की नींव को सुदृढ किया। किन्तु भ्रमरगीत की भाव-पूर्ण रचना में सूर का प्रथम व अन्तिम लक्ष्य गोपियों की कृष्ण के प्रति उत्कट भक्ति एवं अगाध और उद्दाम प्रेम को ही मार्मिक अभिव्यञ्जना देना है।

सारांशत भ्रमरगीत कवि की भावना के रस को उद्गीर्ण करता है—बुद्धि के गहन और व्यापक चमत्कार का प्रयास वहाँ नहीं है।

●

मापदंडवालो जिनका मतलब है, ग्राज की दुनिया असभ्य, प्रशिष्ट, नास्तिक ! वह दीवाना कवि जब दम-खम से छाती ठोक कर अब भी गाता है :

> मेरे अधरों पर हो अन्तिम वस्तु न तुलसी-दल, प्याला
> मेरी जिह्वा पर हो अन्तिम वस्तु न गंगाजल, हाला,
> मेरे शव के पीछे चलने वालो, याद इसे रखना
> 'रामनाम है सत्य' न कहना, कहना 'सच्ची मधुशाला'।

तब अगर कवि सम्मेलन में बैठे हजारों श्रोता उस गोरे चिट्टे रंग, घुंघराले बाल वाले दीवाने कवि की मस्ती के साथ झूम पड़ते हैं या कि रसार्द्र हो उठते हैं, तो वह गलत है। मस्ती, घटिया कविता करके घटिया लोगों को रसमग्न करना साहित्यकार की विशेषता नहीं है। जब तक उसकी कविता में षड्दर्शन-दर्शन, शैव-दर्शन, बौद्ध का दुःखवाद न हो, जब तक उसकी कविता संस्कृत के शब्दों से अलकृत होकर रसज्ञों को आलोचकों से न ढुंढवाये, तब तक रस-निष्पत्ति कैसे हो सकती है? रसानुभूति हृदय से सदभिन थोड़े ही है, वह उनके (रस के) अंगों स्थायी-भाव, संचारी-भाव, उद्दीपनों तथा अनुभावों की उपस्थिति में है। यह 'उपस्थिति' ढूंढने से मिल जाय, तो रसानुभूति की अभिव्यक्ति फिर चाहे लगड़ी हो, अग्राह्य हो अथवा क्लिष्ट हो।

यह कवि, यानी वह 'बच्चन' नाम का शराबी कवि, कैसे कवि हो सकता है, जो अपनी प्राणप्रिया से कहे, 'अगर मेरा श्राद्ध करवाना हो तो पीने वालों को बुलवाकर मधुशाला सुनवा देना'।

'हाला' की आवृत्ति पर आवृत्ति कविता में हुई कि लोगों ने फतवा दे दिया, कि कवि 'हालावादी' है। 'बच्चन' 'हालावादी'। 'बच्चन' हालावाद का प्रवर्तक कवि! यह कोई उसकी तारीफ में नहीं कहा गया—यह तो युवक, पथ-भ्रष्ट कवि बच्चन को कविता में 'लोकमंगल भावना' तथा 'नैतिकता' न निभाने के लिए आलोचकों द्वारा तमगा दिया गया था क्योंकि उसने साकी-बाला का सौन्दर्य-पूत चित्र खींचा था :

> मेहँदी रंजित मृदुल हथेली पर माणिक मधु का प्याला
> अंगूरी अवगुंठन डाले स्वर्ण वर्ण साकी बाला
> पाग बैंजनी, जामा नीला डाट डटे पीने वाले
> इंद्रधनुष से होड़ लगाती आज रंगीली मधुशाला।

आलोचकों ने उस दीवाने 'बच्चन' का संस्कृत अंतर नहीं देखा, जो हसरतों को कुचलकर 'हाला' बना रहा था, अरमानों को खाक करके 'प्याला'

कुंठित युग का कुंठा-मुक्त कवि - 'बच्चन'

राजानन्द

जैसे हम आभिजात्य लोगों की डिनर-पार्टी में अथवा उनकी क्लब की मजलिस में कभी-कभी 'सोफिस्टीकेटेड' लोगों के मुँह से बड़े नखरे के अन्दाज में सुनते हैं—फलां वह तो निहायत 'अनमेनर्ड' आदमी है। वह 'एटीकेट' तक नहीं जानता। 'ही डजेंट नो डीसेंसी ऑफ अपर क्लास सोसायटी।' ऐसा कुछ हिन्दी-साहित्य में भी हमने सुना है, और 'सोफिस्टीकेटेड' आलोचकों का रोब-दाब हम पर ऐसा पड़ा है कि आजतक उसका असर हमारी बुद्धि पर सवार है—या फिर हम उस रोब-दाब से छुटकारा नहीं लेना चाहते। जिनको 'महा-आलोचकों' ने 'भ्रष्ट' तथा 'दिशा-भ्रमित' घोषित कर दिया, भला हम उन्हें कैसे 'शुद्ध' तथा 'सही' मान सकते हैं? कदापि नहीं।

और उस युग में जब भावना रेशमी भाषा की चिकनी व लकझक पोशाक पहने हुए 'दर्शन' के इत्र से अपने को गंध-युक्त कर वायवीय छायाओं की तरह धरती से गजों ऊपर उड़ रही थी, एक कवि अपने अन्तर की दीवानगी से प्रेरित तथा परिचालित होता हुआ, गा उठा था :

> इस पार प्रिय तुम हो, मधु है,
> उस पार न जाने क्या होगा?

आभिजात्य आलोचक पहले ही चमके बैठे थे, क्योंकि वह उदण्ड कवि 'हाला' 'प्याला' 'मधुबाला' तथा 'साकीबाला' का जिक्र अपनी कविता में करता था, बिना किसी लाग-लपेट के कहता था (गाता था) :

> बजी नफीरी और नमाजी भूल गया अल्ला-ताला,
> पंडित अपनी पोथी भूला साधू भूल गया माला
> शेख बुरा मत माने यदि मैं साफ कहूं तो मस्जिद को
> अभी युगों तक सिखलायेगी ध्यान लगाना मधुशाला।

मार्क्सवादी जिसका मतलब है, आज की दुनिया असभ्य, अशिष्ट, नास्तिक ! वह दीवाना कवि जब दम-खम से छाती ठोक कर अब भी गाता है :

मेरे अधरों पर हो अन्तिम वस्तु न तुलसी-दल, प्याला
मेरी जिह्वा पर हो अन्तिम वस्तु न गंगाजल, हाला,
मेरे शव के पीछे चलने वालो, याद इसे रखना
'राम नाम है सत्य' न कहना, कहना 'सच्ची मधुशाला'।

जब अगर कवि सम्मेलन में बैठे हजारों श्रोता उस गोरे चिट्टे रंग, घुंघराले बाल वाले दीवाने कवि की मस्ती के साथ झूम पड़ते हैं या कि रसाई हो उठते हैं, तो वह गलत है। सस्ती, घटिया कविता करके घटिया लोगों को रसमग्न करना साहित्यकार की विशेषता नहीं है। जब तक उसकी कविता में अद्वैत-दर्शन, जैन-दर्शन, बौद्ध या द्वैतवाद न हो, जब तक उसकी कविता संस्कृत के शब्दों से अलंकृत होकर रसालों को आलोचकों से न ढुकवाये, तब तक रस-निष्पत्ति कैसे हो सकती है ? रसानुभूति हृदय में सदभित थोड़े ही है, वह उसके (रस के) अंगों स्थायी-भाव, संचारी-भाव, उद्दीपनों तथा अनुभावों की उपस्थिति में है। यह 'उपस्थिति' ढूँढने में मिल जाय, तो रसानुभूति की अभिव्यक्ति फिर चाहे लगड़ी हो, अग्राह्य हो अथवा क्लिष्ट हो।

वह कवि, यानी वह 'बच्चन' नाम का शराबी कवि, कैसे कवि हो सकता है, जो अपनी प्राणप्रिया से कहे, 'अगर मेरा श्राद्ध करवाना हो तो पीने वालों को बुलवाकर मधुशाला खुलवा देना'।

'हाला' की आवृत्ति पर आवृत्ति कविता में हुई कि लोगों ने फतवा दे दिया, कि कवि 'हालावादी' है। 'बच्चन' 'हालावादी'। 'बच्चन' हालावाद का प्रवर्तक कवि ! यह कोई उसकी तारीफ में नहीं कहा गया—यह तो युवक, पथ-भ्रष्ट कवि बच्चन को कविता में 'लोकमंगल भावना' तथा 'नैतिकता' न निभाने के लिए आलोचकों द्वारा तमगा दिया गया था क्योंकि उसने साकी-बाला का सौन्दर्य-पूत चित्र खींचा था :

मेंहदी रंजित मृदुल हथेली पर माणिक मधु का प्याला
अंगूरी अवगुंठन डाले स्वर्ण वर्ण साकी बाला
पाग बैंजनी, जामा नीला डाट डटे पीने वाले
इन्द्रधनुष से होड़ लगाती आज रंगीली मधुशाला।

आलोचकों ने उस दीवाने 'बच्चन' का संस्कृत अवतार नहीं देखा, जो हसरतों को कुचलकर 'हाला' बना रहा था, अरमानों को खाक करके 'प्याला'

बना रहा था, जो ढह रहा था सब पीने वाले (कविता का आनन्द लेने वाले) पीकर (आनन्द लेकर) चले जाएंगे, पर कोई नहीं जान पाएगा कि :

किसके मन के महल ढहे सब
साकी हुई यह मधुशाला ।

यह ऐसा युग था जब 'बच्चन' निर्भीकता, से कबीर जैसी भंगिमा में अनेकार्थी हैट-पतलून वाले वैष्णवी-नास्तिकों के परखचे उड़ा रहा था। सुधारवादियों का चोला पुराना होकर छिन्न-भिन्न हो गया था और छायावादियों के दार्शनिक सिक्कों को जनता ने 'अपरिचित' कह कर खोटा घोषित कर दिया था। आलोचकों के फतवे भी कारगर साबित नहीं हुए। जनता ऊपर चढ़ाती ही गई, इस कवि को। और यह इस वजह से, क्योंकि वह अपने दिल की धड़कनों को उनके दिल की धड़कनों से संयुक्त करके गा रहा था। वह सिर्फ आदमी होकर जी रहा था और सिर्फ आदमियों का होकर लिख रहा था। उन्हीं की प्यास की बात; उन्ही के सपनों की बात; उन्ही के बनने-बिगड़ने वाले महलों की बात। जब कवि आलोचकों के चोचलों से व उनके व्याघातों से त्रास पाने लगा, तो उसकी सहनशीलता जवाब दे गई। वह एक तरफ कह उठा :

सृष्टि के प्रारम्भ में मैंने उषा के गाल चूमे
बाल रवि के भाग्य वाले दीप्त भाल विशाल चूमे ।

यह कुण्ठित कवि की 'फ्रायडियन' अभिव्यक्ति नहीं थी, यह कुंठित आलोचकों को निर्भीक आत्म-विश्वासी कवि का प्रति-उत्तर था, जो उसको लगातार गलत साँचे में फिट कर रहे थे और जो आज भी नहीं मान रहे हैं।

उसने स्पष्ट कहा :

मैं वही हूँ देह-धर्मों से
बंधा जग, जान ले तू,
तन विकृत हो जाए लेकिन
मन सदा अविकार मेरा ।

अच्छी कही मन की बात। अशिष्ट 'बच्चन' को पता नहीं था, उसके नम्बर इसलिए कट रहे हैं, क्योंकि वह 'विकारी मन रखकर' अविकृत 'तन' नहीं दर्शाता—अपने मन की प्यास को छिपाकर 'जोगिया' राख नहीं मलता, गहरे दर्शन की बात नहीं करता, अपने अन्दर के 'अंगड़-खंगड़' को छिपा कर। आभिजात्य-वर्ग की विशेषता है—अपने स्वार्थ की बात को भी इस भंगिमा से कहना कि सामने वाले उसे अपने ऊपर उपकार समझें। कायर पुरुषों की उस

कुण्ठित नैतिकता को 'बच्चन' जैसा व्यक्ति अपनी सारी ईमानदारी में कहे जा रहा था, ताकि लोगों के मुखौटे उतर जायें और उनके अन्दर का पीप झाँकने लगे :

(अ) मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधु समझता,
शत्रु मेरा बन गया है छल-रहित व्यवहार मेरा।

(आ) क्या किया मैंने, नहीं जो कर चुका संसार अब तक ?
वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी ?

आलोचक वृद्ध हों या ना हों, उनके दिमाग वृद्ध थे। वह ओलिया-आचार्य बनने की बीमारी से ग्रस्त थे (आज भी हैं)। अगर उन्होंने लक्षणा को भी अभिधा के रूप में समझा, तो उनका दोष नहीं था, उनके 'इतिवृत्तात्मकता' से नथा ठेठ नैतिकता से कुण्ठित दिमाग का दोष था इसलिए वह 'विस्मृति' की शक्ति को नहीं समझ सके (यद्यपि धरम-करम में वे भी अपने को विस्मृत करते थे)। वे कवि के अधर पर लगे हुए हृदय के रक्त को पहचान नहीं सके।

'आत्मबोध' अथवा 'आत्मज्ञान' की बात हमारे यहाँ दर्शन में भी सिहर-सिहर कर की गई है। कुण्ठाओं को जन्म न लेने देने वाली यदि कोई शक्ति मनुष्य के पास है, तो वह एक है कि वह अपने को देखें और जानें। अपनी कमजोरियों को स्वीकार करे। यह अन्तःशुद्धि की प्रक्रिया है। अगर यह प्रक्रिया स्वतन्त्रता संग्राम के वक्त संग्राम में प्रवृत्त लोगों में सक्रिय रहती, तो वर्तमान इतनी बड़ी कुण्ठा को ओढ़े हुए नहीं होता। 'बच्चन' जैसे निर्भीक तथा विद्रोही कवि को लिखना नहीं पड़ता :

लेकिन जिन्होंने
शोर आगे से मचाया,
पूँछ पीछे से हिलाई
वही सीस निपोर
काम-छिछोर दानव
सिंधु के सब रत्न-धन को
आज खुलकर भोगते हैं
बात है यह और
उनके कंठ में जा
अमृत मद में बदलता है,
और वे पागल नशे में
हद, हया, मरजाद

मिट्टी में मिला कर
नाच नंगा नाचते हैं।
और हम - तुम
उस पुरा-अभिशाप से
संतप्त, विजड़ित
यह तमाशा देखते हैं।

यह निर्भीकता तथा आत्म-विश्वास निष्कलुष अन्तःकरण से निकलता है, उन राष्ट्रीय-कवियों की समझौता-परस्त लेखनी से नहीं, जिन्होंने कभी 'हुंकारें' और आवाजों के जलजले उठाये और जब आज जनमानस वर्तमान की विभीषिका से अस्त-व्यस्त है, तब वह राजनीतिक सुविधाओं की कंदरा में प्रवेश करने के लिये समाधि लिये बैठे हैं। यह आत्म-विश्लेषी कवि बच्चन ही है, जो खुले दिल से लिख सकता है :

मुझ में है देवत्व जहाँ पर
झुक जाएगा लोक वहाँ पर,
पर न मिलेंगे मेरी दुर्बलता को अब दुलराने वाले।

आलोचक-प्रवरों के कलेजे में बड़ा दर्द उठा कि कवि अपने पर ही अंगारे रखने को क्यों कह रहा है। मनोविज्ञान के आलोचक धुरन्धरों ने कवि को काम-पीड़ित घोषित कर दिया। इसकी पूर्ति न होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति में उन्होंने कुंठाएँ ढूंढलीं। आखिर कवि ने यह क्यों लिखा :

क्यों बाकी अभिलाषा मन में
झंकृत हो फिर यह जीवन में ?
क्यों न हृदय निर्मम हो कहता अंगारे अब धर इस पर दूँ।

इसका जवाब उन्हें मिल जाता अगर वे खोजते। इसका जवाब 'बच्चन' ने दिया था, पर नजर के कमज़ोर (वैसे बड़े सूक्ष्म-भेदी) आलोचकों की दृष्टि ने उसे समझा नहीं (जानकर समझना नहीं चाहा), उसने स्पष्ट लिखा था :

डूबता मैं किन्तु उतराता
सदा व्यक्तित्व मेरा
या
मिट्टी है अश्रु बहाती है,
मेरी सत्ता तो गाती है

अपनी ना-ना, उसकी पीड़ा की ही तो मैंने बात कही।
अनगिन मगर नमगीन नहीं।

स्पष्टवादिता, छल-मुक्त सहज अभिव्यक्ति 'बच्चन' के कवि की विशेषता रही है। उसने अगर मिलन-क्षण को अभिव्यक्त किया, तो बिना किसी 'टैबू' के बिना किसी कुण्ठा के :

(अ) तुम समर्पण बन भुजाओं में पड़ी हो
उम्र इन उद्‌भ्रान्त घड़ियों की बड़ी है
पा गया तब आज मैं मन खोजता हूँ।

(आ) वह अगस्ती रात मस्ती की, गगन में
चाँद निकला था अधूरा,
किन्तु मेरी गोद काले बादलों के
बीच में था चाँद पूरा,
देह - वह थी भी अनग कब - नेह दोनों
एक मिल कर हो गये थे।

(इ) था गगन कड़का कि छाती में तुम्हें मैंने छिपाया था
थी गिरी बूँदें कि तुमने और मैंने सग नहाया था

अगर अपनी-अपनी अनलिखि डायरी को हम देखने की हिम्मत करें, तो शायद इसी तरह के अनुभव हमें वहाँ अनलिखे (अलिखित), परन्तु भोगे हुए मिलेंगे। यह बात दूसरी है कि आलोचना करते वक्त हम नाक चढ़ाकर माथे पर सलवटें डालकर (मन ही मन स्वाद लेते हुए) कहें, 'हूँह' यह तो अश्लीलता है। कुण्ठित बच्चन नहीं है, वे हैं जिनकी हर 'टेबुल टॉक' लड़कियों के नाम - नक्शा खींचती है, हर नजर राल टपकाती है, पर जब कोई निर्भीक 'बच्चन' बन्द पृष्ठ को खोल देता है, तब कहते हैं 'लिजलिजी भावुकता का वक्त नहीं है। रोमानी गीतों के दिन लद गये।' अपने ही रूप में इतनी आँख-चोरी भयभीत तथा 'कापुरुष' ही करते है—बच्चन के अन्त. का पुरुष दबंग है। दबंग ही नहीं, निष्कपट तथा शुद्ध है। वह स्वीकार सकता है, दूसरे के सामने चुनौती फेंकता हुआ

चली सरल, शुचि सीधे पथ पर
किस की राम कहानी
कुछ अवगुन कर ही जाती है
चढ़ती बार जवानी,
यहाँ दूध का धोया कोई

तो आगे आए
मेरी आँखों में फिर भी खारा पानी ।

लेकिन जो 'शुद्ध चाल-चलन' के पहरेदार अवगुन करके भी सीना तानें और आँखों में खारे पानी के बजाय निर्लज्जतापूर्ण नैतिकता के भाषण बघारें, उनको किस कोटि में रखा जाय ? विद्रोही 'बच्चन' के पास इसका बड़ा कड़ुवा जवाब है, इतना कड़ुआ, जितना नीम के रस का घूंट :

हूं न उनमें जो उदर के 'औ' कमर के
बीच में मस्तिष्क पाए,
और उनमें जो कि दुनिया के परे हो
इश्क मस्ताना लगाए,
आदमी हूं, दम्भ इसका है, बना हूं
देवता-पशु का रणस्थल,
और वे हैं श्वान करते संधि जीवन से, कि पहुंचे—संत करते ।

'बच्चन' का कवि बड़ा खतरनाक कवि है । कहने पर उतारू होता है, तो बड़ी खरी-खोटी सुनाता है । उनसे अपने को भी कभी नहीं बख्शा । जो अपने को नहीं छोड़ता, उसके पास कुमार्गियों के लिए दया-माया नहीं हो सकती । साहित्य में (राजनीति और समाज में भी) जो उछल-कूद हो रही है, 'फ्लेग होइस्टर' जिस नक्कारखाने को साथ लिये ताशों की तड़ड़-तड़ड़ कर रहे है, उनकी खोल को 'बच्चन' के निर्भीक हाथ ही खींच सकते हैं—हाथ नहीं, उनकी कलम वह काम करती है :

और यह जितने उछलते-कूदते हैं
क्या सभी कुछ पा रहे हैं ?
कुछ न पाएँ, पर ज़माने की नज़र में
तो उभरते आ रहे हैं,
जो कि अपने को दिखाते घूमते हैं,
देखते खुद को कहाँ हैं,
और खुद को देखने वाली नजर
नीचे सदा रहती गड़ी रे

बात असल गहराई में जाने की है, जाना ध्येय है—बाद में हाथ चाहे ठींकरे लगें या हीरे । जो आत्म-मंथन तथा स्व-दर्शन परीक्षण को जीवन भर अपने व्यक्तित्व के उत्तरोत्तर चढ़ाव का साधन बनाये रहा, वर्तमान की विभिषिका का उपचार भी ढूंढता है, हनुमान के प्रतीक में । सेवा, संयम, धैर्य,

गया शक्ति के प्रतीक हनुमान को वह 'दो चट्टानें' में विश्व के सामने रखता है, क्योंकि उसे पता है जो मूल्य पहले थे, वे सब

काल-जर्जर हो
विशृंखलित और विघटित हो रहे हैं।
अव्यवस्था आज बाहर,
किन्तु उससे अधिक भीतर,

कुण्ठा का जन्म आन्तरिक अव्यवस्था से होता है। यह आन्तरिक अव्यवस्था इस युग के व्यक्ति-व्यक्ति की समस्या है। इसका निदान स्वयं को देखने, परखने तथा परीक्षण पर चढ़ाने से है। संघर्षमय जीवन में आत्म-विश्वास से रम कर साहसपूर्वक जूझने में है। विकृतियों को नपुंसक 'दासों' तथा 'गुलामों' की तरह अपना लेने में अथवा उसकी 'चारणी' प्रशस्ति में नहीं है, जैसे आज के तथाकथित 'आधुनिक विद्रोही' 'काम-रुग्ण साहित्यकार' कविता के क्षेत्र में सूट-बूटधारी प्रदर्शों की तरह उत्पात कर रहे हैं। 'विद्रोह' 'बीमार' बोध के लोग नहीं किया करते हैं, वे करते हैं, जिनके पास अपने शुद्ध अन्तःकरण तथा अपनी आविष्कार चेतना का बल होता है। 'बच्चन' में वह शुरू से था। आज भी है। कुण्ठित उसने अपने को होने नहीं दिया। वह आत्म-विश्लेषण को गीतों तथा कविताओं का कथ्य बनाकर ऊपर उठता चला गया—वह कुण्ठित युग में कुण्ठा-मुक्त होकर साहित्य-सृजन करता रहा, पर साहित्यिक-क्लब के अभिजात्य सदस्य नाक-भौं सिकोड़ कर, माथे पर बल देकर कहते रहे 'ही इज़ेंट नॉट डीसेंसी ऑफ अपर क्लास सोसायटी'—वह अनसेंनड है, एटीकेट नहीं जानता, जैसे सारी ठकुराई उन्हीं के वसीयतनामे में लिखी गई थी। आज भी ऐसे आलोचक चट्टे के बट्टे या 'मौसेरे भाई' गीति-विधा को ही अनुपयुक्त (युग के सन्दर्भ में) तथा निरर्थक बता रहे हैं। कुछ 'गद्याश्रयी धारा' के 'इंटेलेक्चुअल' कवि भी 'नगरबोधी' हाई-हील-शू पहनकर (सैंडिल भी) अपनी आधुनिकता का प्रचार कर रहे हैं, यह बिना जाने कि गीत, कविता हृदय की चीज़ अधिक है, यह बुद्धि को निमन्त्रण देती है, उसकी आवभगत करती है, इसलिए कि हृदय से इसकी मित्रता बैठ जाए। बच्चन ने यही किया, उसने अपने काव्य में हृदय को बुलवाया, वह भी हर तरह के 'प्राइवेशन' से मुक्त कर, कुण्ठा-मुक्त करके।

●

भारतीय परम्परा और आधुनिकता

●

प्रेम सक्सेना

हिन्दूवादी दृष्टिकोण के अतिरिक्त और कुछ भी है ? यदि भारतीय परम्परा का अर्थ हजारों वर्षों से चली आ रही हिन्दू-जीवन-पद्धति से है, तो क्या ऐसी पद्धति की आज कोई सार्थकता भी है, आवश्यकता भी है ? बिना अधिक विस्तार में गये यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय परम्परा का अर्थ हिन्दू-जीवन-पद्धति से ही लिया जा सकता है, क्योंकि प्रारम्भ से ही आर्यावर्त में यही जीवन-पद्धति प्रमुख रही है, आज भी प्रमुख ही है चाहे राजनैतिक क्षेत्र में लोकतंत्र प्रवेश क्यों न कर गया हो, आर्थिक क्षेत्र में औद्योगीकरण क्यों न विस्तार पाने लगा हो और सामाजिक क्षेत्र में धर्मनिरपेक्षता को क्यों न केवल औपचारिकता के रूप में स्वीकार कर लिया गया हो। हिन्दू-जीवन-पद्धति का आधार माया, कर्म और पुनर्जन्म रहे हैं। नैतिक-मूल्यों के अन्तर्गत आध्यात्मिक अथवा आधिदैविक-मूल्यों को अधिक महत्त्व दिया गया है। मोक्ष को सर्वोपरि महत्ता प्रदान की गई है, नैतिक-मूल्यों को दूसरा स्थान मिलता है तथा भौतिक आवश्यकताओं एवं तत्सम्बन्धी मूल्यों को और भी कम महत्त्व दिया गया है। धर्म को केवल जातिगत कर्त्तव्यों-अकर्त्तव्यों तक ही मान्यता प्रदान की गयी। मूल्यों की इस अवधारणा के दो दुष्परिणाम हुए; एक—परस्पर-व्यापी चारित्रिक-गुणों का ह्रास तथा नैतिक आचरण में निष्ठा का अभाव, दो—मूल्यों के निर्माण का स्रोत मानव नहीं व्यवस्था को माना गया अर्थात् एक ओर तो मनुष्य मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करे और दूसरी ओर उसका महत्त्व तभी माना या आँका जाय, जबकि वह कुल, जाति, अथवा समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप स्वयं को ढाले। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-मनुष्य में 'पहल करने' की प्रवृत्ति का विकास हुआ ही नहीं और यदि इस प्रवृत्ति ने जन्म लेने अथवा विकसित होने का प्रयत्न भी किया, तो अधिनायकवादी हिन्दू-समाज-व्यवस्था ने उसका समूलोच्छेद करके ही दम लिया। एक ओर तो परम्परागत हिन्दू-समाज ने व्यावहारिक स्तर पर न तो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को स्वीकारा, न उसकी 'पहल करने की क्षमता' को पहचाना और न उसकी जिज्ञासा-वृत्ति को व्यावहारिक स्तर पर स्वतन्त्रता प्रदान की, दूसरी ओर दर्शन के क्षेत्र में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता भोगने दी और मोक्ष-प्राप्ति के लिए उसे नैतिक-अनैतिक आचरण के बंधन से मुक्त माना।

भारतीय परम्परा का यह स्वरूप भारत में आधुनिकता (modernity) के लिए तो अधिक अनुकूल नहीं कहा जा सकता यद्यपि आधुनिकीकरण (modernisation) की वर्तमान प्रक्रिया निर्बाध चलती रह सकती है। आधुनिकीकरण सभ्यता को जन्म देता है, तो आधुनिकता संस्कृति की जननी है। भौतिक समृद्धि आधुनिकीकरण की चरम उपलब्धि है, इसके विपरीत आधुनिकता गुणात्मक बोध है, तत्त्व-अन्वेषण की दृष्टि है। बहुत सम्भव है, यदि आधुनिकता

स्पष्ट है कि कोई भी परम्परा और इसलिए भारतीय परम्परा भी इस स्थिति का सामना करते हुए नहीं टिक सकती। तो क्या परम्परा से कट जाना ही आधुनिकता है? यहाँ यह कहना अभीष्ट नहीं है कि आधुनिकता परम्परा विच्छिन्न ही हो सकती है, और न ऐसा सम्भव ही है कि 'आज' से 'कल' अथवा 'अतीत' से 'वर्तमान' सर्वथा कट जाये। किसी भी समाज में ऐसा सम्भव नहीं है और मुख्यतः भारतीय समाज के लिए तो और भी आवश्यक नहीं। माना कि भारतीय परम्परा में, दर्शन के क्षेत्र में स्वतंत्र व्यक्ति-चेतना विज्ञान के क्रमिक-विकास, समान महत्त्व व सत्ता के समुचित व्यवहार को कोई स्थान प्राप्त नहीं है, तथापि ऐसे असंख्य उदाहरण मिल जायेंगे जब कि (अतीत में) आत्मा की स्वतंत्रता को स्वीकृति मिली है, सर्वोच्च बुद्धिसम्पन्न विचार-क्रिया ने सत्य के प्रति जिज्ञासापूर्ण खोज में उसकी अन्तिम सीमा तक पहुँचने की सामर्थ्य प्रदर्शित की है, जीवन और जगत के प्रति निरपेक्ष दृष्टिकोण स्वीकार किया है तथा आधुनिकतम ज्ञान के विकास के लिए सूक्ष्म विचार-पद्धति को अपनाया है। यह सत्य है कि शंकर का मायावाद भारतीय परम्परा का प्रमुख स्वर रहा है, जिसके अनुगमन में भौतिक समृद्धि अथवा भौतिकता को सदा ही नकारा गया है। भारतीय परम्परा का यह स्वर आधुनिकता की आवश्यकताओं के अनुरूप निश्चय ही नहीं है। लेकिन यह भी सत्य है कि इस मुख्य स्वर के आस-पास ऐसे विरोधी स्वर भी उठते रहे हैं,जो अनीश्वरवादी रहे हैं, जिनमें चारवाक् का भौतिकवाद भी सम्मिलित है। चारवाक् के भौतिकवाद ने तो कई शताब्दियों तक रूढ़िग्रस्त भारतीय हिन्दू जीवन-पद्धति के पैर तक नहीं जमने दिये थे। उपनिषदों एवं महाभारत में ऐसे ढेरों उद्धरण मिल जायेंगे, जो यह प्रमाणित करते हैं कि न तो पुनर्जन्म और न शरीर की अवज्ञा करके आत्मा को सर्वोपरि महत्त्व देने के सिद्धान्त आर्यावर्त्त में सर्वप्रचलित अथवा सर्वमान्य थे। इससे पूर्व वेद, मुख्यतः ऋग्वेद एक ऐसे आर्य (भारतीय) समाज के होने को इंगित करते हैं, जो उत्तरवर्त्ती संकुचित हिन्दूवादी व्यवस्था से मुक्त था। सामान्य जन और यहाँ तक कि वैदिक ऋषि भी मांस-भक्षण और नशीले पेय का सेवन भी करते थे। ऋग्वेद में बाल-विवाह, विधवा विवाह पर नियन्त्रण, जाति-व्यवस्था, कर्म, पुनर्जन्म अथवा अवतार का कहीं उल्लेख नहीं है।

भारतीय परम्परा आधुनिकता के कितनी अनुकूल है, इसका निर्णय करने से पूर्व यह जान लेना और स्पष्ट हो जाना नितान्त आवश्यक है कि हम कौनसी परम्परागत धारा को अधिक महत्त्व देते हैं? कहीं हम परम्परा के नाम पर रूढ़ि को तो महत्त्व नहीं देने जा रहे हैं? मनु ने भी एक प्रकार की हिन्दू-विचार-पद्धति, प्रकृति तथा व्यवस्था को जन्म दिया था। यदि भारतीय

परम्परा का अर्थ मात्र मनु द्वारा प्रतिपादित हिन्दू-समाज-व्यवस्था से है, तो यह निःसंकोच स्वीकार करना होगा कि यद्यपि आज की स्थिति में भारत में यही समाज-व्यवस्था अथवा जीवन-पद्धति प्रमुख है, तथापि उसकी विकृतियाँ बहुत सीमा तक अदृश्य हो चुकी हैं—सती प्रथा का कहीं नाम नहीं, विधवाएँ पुनर्विवाह करने लगी हैं, बाल-विवाह कम होते जा रहे हैं और जाति-प्रथा के बन्धन शिथिल हो चुके हैं। लेकिन फिर भी अपरिग्रह और सादा जीवन-यापन की भावना, निरासक्ति, शक्ति, जाति, पाण्डित्य अथवा आयु के आधार पर सत्ता के प्रति दुर्बलता की भावना, नागरिक अधिकारों के प्रति उदासीनता, कर्म एवं पुनर्जन्म से मुक्ति-प्राप्ति के लिए मोक्ष की साधना के निमित्त भौतिक मूल्यों की अवमानना आदि ऐसे कुछ तथ्य हैं, जो भारतीय समाज में आधुनिकता की प्रक्रिया को अवरुद्ध किये हुए हैं।

आधुनिकता की प्रक्रिया में परम्परा को तभी महत्त्व प्रदान किया जा सकता है, जबकि परम्परागत जीवन के तथ्य आधुनिकता को प्रतिगामी नहीं, अग्रगामी और गतिशील बनाते हों। परम्परा उसी सीमा तक ग्राह्य है, जितनी वह जीवन्त है। क्योंकि जो मृत है, अनुपयोगी एवं अनावश्यक है, वह परम्परा नहीं, रूढ़ि है। अतएव आधुनिकता रूढ़ि का नहीं परम्परा का चुनाव करती है और केवल वे ही परम्परागत तथ्य अथवा जीवन-तत्त्व चुने जा सकते हैं, जो आधुनिकता की प्रक्रिया को तीव्र गति प्रदान करते हों। यह ऊपर ही स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतीय परम्परा आधुनिकता की उर्वरक खाद बन सकती है।

इस सन्दर्भ में एक ही प्रश्न बच रहता है कि आधुनिकता की इस प्रक्रिया को गति कैसे मिले? यह काम है उन बुद्धिजीवियों का, जो हर समाज में हर सम्भावित परिवर्तन के अग्रदूत होते हैं। इन्हीं बुद्धिजीवियों अर्थात् विचारकों के बस की यह बात होती है कि आधुनिकता को वे गुणात्मक-बोध समझकर परम्परा में से उन तथ्यों का चुनाव करें, जो इस गुणात्मक-बोध में सहायक हों; वे सम-सामयिक परिस्थितियों के प्रति न केवल स्वयं सजग हों, अपितु यथार्थ के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करते हुए आत्मनिश्चय करें कि व्यक्ति की पारस्परिक निष्ठा के प्रति आस्था के स्वर को किस प्रकार मुखरित किया जा सकता है तथा मानव मात्र में विवेक की संगति और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के सह-सम्बन्धों को विकसित करने के लिए किस प्रकार क्रियाशील रहा जा सकता है। यही आधुनिकता है, यही अभीप्सित है!

भारतीय गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली

अम्बालाल नागोरी

भारत का अतीत बड़ा गौरवशाली रहा है। इस पुण्य-भूमि पर मानव तो क्या देव भी जन्मार्थ कामना किया करते थे। संस्कृत-भाषा का यह श्लोक इस भाव को ही प्रकट कर रहा है :

गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गस्य भूत च हेतु, भवन्ति भूयः पुरुषा सुरत्वात्॥

हमारा यह गौरव वस्तुतः पुरातन इतिहास की अभूतपूर्व सामग्री है। इस शानदार व भव्य भावना में आपूरित उज्ज्वलता का मूल आधार भारत का दिव्य-चरित्र ही है और यह दिव्य-चरित्र इस तपोभूमि के तप पूत ऋषि-महर्षियों की गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का परिणाम कहा जा सकता है।

आज इस विज्ञान से चौंधियाए हुए युग में भी, जो भारतीय संस्कृति का अजस्र प्रवाह मूलतः प्रवाहित हो रहा है, यह भी उसी का फल है। हिमालय से कन्याकुमारी और अटक से कटक तक के इस विशाल देश में जो भावनात्मक एकता वर्तमान है, वह भी उसी शिक्षा-प्रणाली का प्रभाव है। यही वह शिक्षा-प्रणाली है, जिसके द्वारा राम, कृष्ण की इस पुण्य लीलास्थली ने क्या आध्यात्मिक, क्या भौतिक और क्या व्यावहारिक, सभी क्षेत्रों में चरमोन्नति की थी। इस युग के लिए वह अब भी गवेषणा का विषय बनी हुई है।

'गुरुकुल' शब्द ही एक विशेष भाव से भरा है। यह आत्मीय वातावरण का प्रतीक है। भारतीय कुमार के लिए यह एक नया परिवार था। जैसे वह अपने पितृकुल में लाड़-प्यार से पाला-पोसा जाता था, वैसे ही गुरुकुल में गुरु व गुरुपत्नी द्वारा पितृ व मातृ-स्नेह प्राप्त करता था। यहाँ प्रवेश पाकर कुमार 'छात्र' और 'अन्तेवासी' बन जाता था। विद्यार्थी के लिए कितने सुन्दर शब्द हैं ये। इन शब्दों में गुरुकुलत्व का भाव ओतप्रोत है। गुरु की छत्रछाया में

जहाँ विद्यार्थी विद्याभ्यास करते थे और गुरु के समीप रहकर अपने जीवन का निर्माण करते हुए आश्रमीय-जीवन व्यतीत करते थे, वे ही स्थान गुरुकुल कहलाते थे।

गुरुकुल-प्रवेश के लिए विशेष नियमों का बन्धन तो रहता ही था। यह बन्धन बन्धन नहीं, जीवन ढालने की योजनामात्र थे। तत्कालीन समाज में भारतीय-जीवन चार आश्रमों में अपना मानवीय रूप धारण करता था। पहला आश्रम था ब्रह्मचर्याश्रम। यही गुरुकुल-जीवन था। छात्र पूर्ण संयम का पालन करते हुए गुरुकुल में अपने भावी जीवन की तैयारी करते थे। वहाँ उन्हें २५ वर्ष की आयु तक रहना होता था। भारतीय कुमार के प्रवेश के लिए गुरुकुलों के द्वार खुले होते थे—वहाँ न शुल्क आदि की बाधा थी न और किसी और बात की। क्या राजा और क्या रंक सभी एक कुल के सदस्य बन जाते थे। वहाँ प्रवेश पाते ही राज-पुत्रत्व और रंक-पुत्रत्व से 'राज' और 'रंक' शब्द हट जाते और पुत्रत्व मात्र रह जाता था और विद्यार्थी गुरुकुलीय समता-सुधा से समन्वित बन जाते थे।

प्रातः ब्राह्म-मुहूर्त से गुरुकुलीय दिनचर्या का श्रीगणेश होता, जो नियमित चलता रहता। दिनचर्या के प्रमुख अंग निम्न रहते थे :

१. ईश-स्तवन
२. गुरु-सेवा
३. स्वाध्याय
४. गौ-चारण
५. अन्य कार्य—भिक्षा, हवनादि।

इस पंचमुखी दिनचर्या का आधार होता था विनय। 'विद्या ददाति विनयं' के वातावरण में वे पलते थे। वहाँ कोई अनुशासनहीनता की समस्या नहीं थी। विद्यार्थी २५ वर्ष तक की आयु में इस पंचमुखी दिनचर्या का पालन करते हुए दक्षता प्राप्त करता था। उसे गुरु के सान्निध्य में रहना परमावश्यक था। गुरु-आज्ञा सबसे बड़ी आज्ञा मानी जाती थी। गुरुकुलीय-जीवन अनुशासन की दिव्य-ज्योति से चमत्कृत रहता था। गुरु अपने विषयों के पूर्ण निष्णात व अधिकारी व्यक्ति होते थे। उनकी दिव्य-प्रतिभा के आगे छात्र-समुदाय नतमस्तक रहता था। वहाँ एक ही ध्येय था—अध्ययन, ज्ञान-प्राप्ति 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' की ध्वनि गुरुकुलीय-आदर्श थी।

उनकी यह दिनचर्या ज्ञान और क्रिया का समन्वित रूप था। जीवन में कोरा ज्ञान क्रिया के बिना शुष्क है, नीरस है और है निरर्थक। क्रिया-रहित जीवन 'यथा खरो चन्दन भारवाही' सा हो जाता है। आज शिक्षा में

ज्ञान और क्रिया का ताल-मेल बैठाने के लिए प्रयत्न किया जाता है, वह तत्कालीन गुरुकुलीय-शिक्षा में वर्तमान था। छात्र स्वावलम्बन का पाठ पढ़ते थे, श्रम-साध्य उनका जीवन था। राजपुत्र कृष्ण और ब्राह्मण-पुत्र सुदामा वन में साथ-साथ समिधा आदि के लिए जाते रहते थे और स्वावलम्बन और श्रम का पाठसूत्र जीवन में उतारते थे। गुरुकुल में शास्त्र, शस्त्र आदि सभी विद्याओं का छात्रों को अभ्यास करवाया जाता था। यही शिक्षा कला, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में दी जाती थी। शिक्षा का मूल आधार दर्शन था। उसकी पृष्ठ-भूमि पर ही गुरुकुलीय-शिक्षा प्रतिष्ठित रहती थी। मानव-जीवन एक मूल्यवान् उपलब्धि है। यह जीवन अनेकानेक महान् पुण्यों के उदय से प्राप्त होता है। इस भाव की सार्थकता की ओर छात्र आकृष्ट हो जाय, यह उस शिक्षा का लक्ष्य था। उस छात्र की आत्मा अनात्मतत्त्व और अविद्या के चक्कर से दूर हो, शुद्ध-बुद्ध हो जाय, यही उस शिक्षा की ध्येय-पूर्ति मानी जाती थी। जीवन का अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' माना गया है। उसी मोक्ष की प्राप्ति में यह शिक्षा सहायक हो, यही गुरुकुलों की दृष्टि रहती थी।

गुरुकुल के पाठ बड़े आदर्श और जीवन की अमूल्य निधि माने जाते थे। 'सत्यंवद', 'धर्मं चर', 'मातृदेवोभव', 'पितृदेवोभव', आचार्यदेवोभव—कितने भाव भरे प्रारम्भिक पाठ होते थे गुरुकुलों के। ये जीवन-प्रासाद की नींव बनते थे। ऐसे दिव्य और पुनीत पाठों में छात्र-मानस चमत्कृत हो उठता था। छात्र की शुभकामनाएँ बनती थीं :

तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतमगमय।

इस तरह उनकी यह शिक्षा ज्ञान और क्रिया के साथ जीवन का सर्वांगीण विकास करती हुई, उन्हें सुयोग्य निष्णात् नागरिक बनाती थी—जो कला, वाणिज्य और ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में बेजोड़ सिद्ध होते थे। भारतीय पुरातन इतिहास की महान् विभूतियाँ इन गुरुकुलों की देन है। जहाँ हम आध्यात्म क्षेत्र में बढ़े-चढ़े थे, वहाँ हम राजनीति में भी पीछे नहीं थे। चाणक्य जैसे नीतिज्ञ और चन्द्रगुप्त जैसे सुशासक भी गुरुकुलों में ही प्राप्त होते थे।

गौ-चारण भी गुरुकुलीय शिक्षा का प्रमुख अंग था। यह कार्य-क्रम जहाँ मानव को पशु-सेवा की प्रेरणा देता था, वहाँ खुली प्रकृति के प्रांगण में प्राकृतिक-जीवन और विविध वनस्पति विज्ञान का एक पाठ भी सिद्ध होता था। सतोगुण की प्रधानता बनाये रखने के लिए गौ-सेवा परमावश्यक थी। इसी

उनकी इच्छा पूर्ति करते थे। हमारे पुरातन साहित्य में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, जहाँ राजाओं ने स्नातकों की माँग की सश्रद्धा पूर्ण करते हुए अपने जीवन की सार्थकता मानी है।

वे स्नातक समाज के दिव्य स्तम्भ माने जाते थे। उनको पाकर समाज धन्य होता था। सब अपने-अपने क्षेत्रों में प्रविष्ट होकर पठित विद्या का मानव की ही नहीं, प्राणी मात्र की सेवा में सदुपयोग करते थे। उसके बदले में किसी धन की कामना नहीं रहती थी। निस्वार्थ सेवा ही उनका लक्ष्य था। अपना कार्य करते हुए वे समाज-सेवा किया करते थे। 'सेवा' का मूल्यांकन चाँदी या सोने के टुकड़ों में नहीं, आत्मा की कृतार्थता में था। 'सेवा' कठिनतम मानी जाती थी। सम्भवत: त्यागवृत्ति ही इस कठिनतम विशेषण का मूल कारण रही हो। त्याग बिना सेवा कहाँ ? सेवा को तो परम गहन धर्म बताते हुए योगियों तक के लिए अप्राप्य कहा गया है।

समाज में जब तक शिक्षा का सम्मान न हो, समाज पनप नहीं सकता। उस समय के समाज ने भारत का गौरवशाली अतीत बनाया, उसका कारण समाज में शिक्षा का सम्मान था। ज्ञान का आदर था, धन का नहीं।

गुरुकुलीय-जीवन का एक आदर्श और था, वह था—'सादा जीवन उच्च विचार'। यद्यपि आज हम सादगी की आलोचना सुनते हैं, पर सादगी आलोच्य नहीं, वह हर स्थिति में उपादेय ही है। तड़क-भड़क आडम्बर का रूप है। जहाँ आडम्बर में हम लगे, हमारा दृष्टिकोण अपने लक्ष्य से दूर हो जाता है। गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली में इस तत्त्व पर भी बहुत बल दिया जाता था। वहाँ राजपुत्र भी 'बटुक' का रूप धारण करता था। दृष्टि यही थी कि सादगी से वह परे न चला जाय। सादगी संयम का सोपान है। तड़क-भड़क वाला विद्यार्थी आडम्बरापेक्षी होगा और वह शिक्षा के उद्देश्य से दूर हो जायेगा। छात्र-जीवन का मूल है—संयम-पालन। 'ब्रह्मचारी' शब्द का प्रयोग ही जीवन की सादगी को प्रकट करता है। अतः गुरुकुलीय वातावरण को शुद्ध व पूत बनाये रखने के लिए सादगीमय जीवन अत्यावश्यक था। यही भावना उनके जीवन में व्याप्त होती थी, अतः सेवा और राष्ट्र की अभिवृद्धि में ही वे संतोष मानते थे।

समय बदला। इतिहास पलटे। शस्य-श्यामला वसुन्धरा सबका आकर्षण केन्द्र बनी। अत: नये शासन जमे, वे उखड़े, फिर दूसरे जमे। परन्तु आज भी भारतीय-संस्कृति की पुनीत धारा गङ्गा-यमुना की धारा-सी जन-मानस को पवित्र करती हुई प्रवाहित हो रही है।

भारतीय-संस्कृति की मौलिकता भावनात्मक एकता के रूप में वर्तमान है। अनेक विभिन्न संस्कृतियों के झंझावात् भी इसे न उड़ा सके। वे सब इसमें विलीन हो गये। इस भारतीय संस्कृति ने सबको अपने में समन्वित कर लिया और अपनी मौलिकता को सुरक्षित रखा। 'समन्वय' हमारी संस्कृति का प्राण रहा है, और है। यह समन्वय की भावना उसी प्राचीन गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की देन है।

आज भी यह गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली गवेषणा का विषय बनी हुई है। आज हम शिक्षण-क्षेत्र में जो अध्यापन व मूल्यांकन के क्रांतिकारी परिवर्तन देख रहे हैं, वे हमारे ज्ञान और क्रिया के ताल-मेल से ही सम्बन्धित हैं। यह ताल-मेल हमारी उस प्राचीन गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली में था।

आज तो हमें ऐसा अनुभव होता है कि हम न इधर के रहे हैं, न उधर के। क्या यह बिन्दु गम्भीरता से विचारने योग्य नहीं है?

●

एक मज़ाक

●

रामसिंह अरोरा

पात्र परिचय

कमल : एम. ए. का छात्र

हरीश : कमल का साथी

मालती : कमल की पत्नी

सरला, प्रमिला, निर्मला . एम. ए. की छात्राएं

(स्थान : कॉलेज का पुस्तकालय—कमल और हरीश आपस में बातें कर रहे है)

कमल : आज भारत-चीन विवाद सम्बन्धी चर्चा पर तुम्हारे सुझाव बहुत अच्छे थे। इस सीमा-विवाद को जितनी गहराई से तुम सोच पा गये, और किसी ने नहीं सोचा। सच हरीश, इसीलिए मैं तुम्हे प्यार करता हूँ।

हरीश : अच्छा। धन्यवाद।

कमल : हरीश, तुम्हारी सूझें बहुत अनोखी हैं और तुम्हारे भाव अद्वितीय और अभिव्यक्ति तो बहुत ही मोहक है। सच पूछो तो तुम और तुम्हारा व्यक्तित्व दोनों ही मोहक हैं।

हरीश : नहीं जी ! ऐसा क्या ? तब तो तुम्हें चाहिए कि तुम हमें कोई टेस्टीमोनियल दो।

कमल : वाह, क्यों नहीं, हम अपनी राय व्यक्त करने के धनी हैं। अपनी नोट की कॉपी के अन्तिम सफे पर पढ़ो। यह तब का रिमार्क है जब तुम धाराप्रवाह बोल रहे थे, भावमग्न थे।

हरीश : लाओ, इधर लाओ। तुम्हें कभी कुछ खोज मिला भी है, और फिर मेरी चीजें तो फेथफुल है, मुझे छोड़ किसी को नहीं मिलती। भई

वाह, क्या रिमार्क है : 'मैं तुमसे प्यार करता हूँ कमल' । वाह, क्या खूब ! (दोनों हँसते हैं) यह भी कोई प्रशंसा है ? अरे, प्रोफ़ेसर साहब आ रहे हैं, मैं चलता हूँ । अच्छा नमस्कार ।

۞

(दूसरे दिन)

कमल : आओ हरीश ! गुड मॉर्निंग ! कल तो तुम ऐसे भागे कि न पूछो ।

हरीश : मॉर्निंग टु यू माई डीयर ! अच्छा सुनो, मैं तुम्हें एक सुखद संवाद देने आया हूँ । यह देखो मेरी नोट्स की कॉपी का अन्तिम पृष्ठ....।

कमल : अरे ! मेरी प्रशंसा को फाड़कर फेंक दिया ।

हरीश : नहीं ! सोचो, मैंने उसका क्या किया होगा ?

कमल : अरे भई ! स्पष्ट है, इसमें से तुमने उसे फाड़ दिया है । तुम इतने अच्छे रिमार्क के लिए विफिटिंग न थे, 'अनवर्दी' थे ।

हरीश : अच्छा सुनो ! मैंने उसे बड़े यत्न से स्केल व ब्लेड की सहायता से आयताकार काटकर, सफाई से लिफ़ाफे में रखकर, सरलाजी को पोस्ट कर दिया है । कहिये ?

कमल : (सुन्न पड़ जाता है) गजब कर दिया तुमने, मुझे तुमसे ऐसी आशा ही नहीं थी हरीश । तुम तो बड़े मूर्ख निकले । तुम्हें यह क्या सूझी ? क्या तुम यह नहीं जानते कि वह कॉलेज की एक बदनाम लड़की है ! तुमने तो मुझे डिफ़ेम कर दिया । मुझसे सब कहा करते थे, हरीश चालबाज़ है, कभी न कभी फँसा देगा । और तो और, उसके घर जाने का रास्ता मेरी ससुराल के सामने से है, कहीं वह मालती को न बता बैठे । तुम कितने मूर्ख हो ! हाय रे, शुभ-संवाद यही था क्या ?

हरीश : अरे तुम भी क्या बात करते हो, सरला तुम्हारी ओर अट्रैक्टेड थी और थोड़ा तुम्हारा भी झुकाव था ही, अतः गुडविल में मैंने तो यह किया है, तुम्हें एहसानमन्द होना चाहिए ।

कमल : ठीक है हरीश ! जूता मारो इस चाँद पर । कम से कम कुछ तो सोचना चाहिए था तुम्हें । यहीं मैं पढ़ता हूँ । यहीं मेरी ससुराल है । यहीं मेरी पत्नी है । सारे प्रोफेसर्स से मेरे पिता का परिचय है, तुमने एवं तुम्हारी जान-पहचान ने तो हैडेक कर दिया है हरीश— इस जान को समाप्त करो ।

हरीश : कमल, व्हाट टु यू टॉक ? मैं कहता हूँ, तुम फोर्चुनेट हो ।

कमल : इस फोर्चूनेट के महरे को तुम बांध लो हरीश ! ईश्वर के लिए मुझे हरेस मत करो। अच्छा तुम जाओ।

हरीश : पर यार एक बात सुन लो—तीर निशाने पर बैठा है। वह मुझसे बोली कि कमलजी के यहाँ आज शाम चाय पीने जाऊँगी। मेरे लिए कहने लगी कि आप भी रहिएगा वहीं। खैर, फॉर योर सेफ साइड, मैं नहीं आ रहा हूँ।

कमल : बकवास मत करो। हरीश, तुम्हें सीमा में रहना आना चाहिए।

हरीश : अच्छा, वन थिंग मोर, देखो तुम्हें उनके अनुकूल ही एटीकेट में रहना होगा, ऐसा न हो कि वे बिगड़ जायें। मेरे ख्याल में तुम्हें मेनेजमेण्ट शुरू कर देना चाहिए। मैं कुछ हाथ बटाऊँ ? तुम तो चुप हो—लो हम चलते हैं।

कमल : हरीश मुझे धर्म-सकट से बचाओ—सुनो, अरे भई ठहरो, सुनते हो...(चला गया) ईडियट। (स्वत) कैसा गँवार है, साले ने हद करदी। चलूँ कहीं मालती को तो मिसअण्डरस्टेंडिंग न हो गई हो। ओहो, वह स्वयम् ही आ रही है। (स्वस्थ होने की कोशिश करता है, खाँसता है)

मालती : हलो डार्लिंग ! आज उदास क्यों हो ? कॉलेज नहीं जाना है क्या ?

कमल : नहीं, जाना क्यों नहीं। ज़रा एक बात तुमसे पूछनी थी, इसलिए रुका था।

मालती : कहिये न।

कमल : सरला तुम्हारे पास आई थी क्या ?

मालती : सरला ? कौन सरला ? नहीं, नहीं. .ओह वो जो आपके साथ .

कमल : हाँ, हाँ, वही। आई थी क्या ?

मालती : (कुछ बदमाशी से) हाँ, हाँ, आई थी क्यों ?

कमल : (अवाक्-सा) मालती तुमसे उसने क्या कहा ?

मालती : कोई खास बात तो नहीं कही (बात ढूंढती-सी) बस आप ही के बारे में कुछ चर्चा की। (हँसी रोकती है)

कमल : मालती, (बड़ा उदास होता हुआ) यह उस हरीश की बदमाशी है। कल वह लेक्चर दे रहा था। मैंने उसकी विद्वता पर लिख दिया 'मैं तुमसे प्यार करता हूँ—कमल।' वह चिट फाड कर उसने सरला

को दे दी (मालती हँस पड़ती है) वह चिट तुम्हें सरला ने दिखाई होगी ।

मालती : (हँसते हुए) वैसे मेरी ऐब्सेन्स में ठीक ही रहेगी वह, डार्लिंग ! ही....ही....ही....ही... (हँसती है) ।

कमल : मालती, तुम मेरा ग़लत इम्प्रेशन न लो । मैं चाहता था कि उसके आने से पूर्व ही तुम्हें सूचना दे देता ।

मालती : (हँसती हुई) हरीश बड़ा विटी है । दरअसल सरला मेरे पास नहीं आई थी । मैंने तो यूँ ही झूठ कह दिया था ।

कमल : हो सकता है, वह अब आवे । मैं चाहता हूँ कि कहीं तुम कोई ग़लत धारणा मेरे बारे में न बनालो । मैं तुम्हारी कसम खाकर कहता हूँ कि स्वप्न में भी मुझे तुम्हारे सिवा किसी का ध्यान तक नहीं आता । मैं......मैं.........।

मालती : (हँसती है) अच्छा-अच्छा, अब कॉलेज भी जायेंगे आप या नहीं ?

कमल : तुम से मैं कह ही चुका हूँ, सरला तुम्हारे पास अगर.........।

मालती : अच्छा-अच्छा, अब आप लेट हो रहे हैं......मैं आपके साथ बरसों से रह रही हूँ, अब गलत इम्प्रेशन बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता, आप कॉलेज चलिए न ।

कमल : अच्छा-अच्छा, मैं चलता हूँ, पर तुम्हें ध्यान रहेगा न ?

(अकस्मात् हरीश मिल जाता है)

हरीश : हलो कमल, आगए ? चलो बैटर लेट देन नेवर । कहाँ थे तुम ? दो पीरियड मिस होगए । तुम्हें सभी बड़ी उत्सुकता से देख रहे हैं ।

कमल : हरीश, तुमसे क्या कहूँ ? कितना झुकना पड़ा है अपनी पत्नी के सामने तुम्हारी वजह से मुझे ।

हरीश : तो कह दिया होता उनसे कि तुम पीहर जाने की बात करती रहती हो, इसलिए मुझे सब्स्टीट्यूट चुनना पड़ा । झुकने की क्या बात थी इसमें ?

कमल : फिर वही···· (सब हँसते हैं)

हरीश : (झुण्ड के समक्ष ही) भई मुझे क्षमा करें । मैं नहीं समझता था कि छोटी-सी बात ही इतना बड़ा रूप ले लेगी । सच, अब पछता तो मैं भी रहा हूँ । सरला तो बड़ा बुरा मान गई है । कहने लगी कि

प्रिन्सिपल को दूंगी मैं वह चिट। कमल ने हमें समझा क्या है ? कमल, गजब होगया, चाहे तुम मुझे गाली दो, मारो, जो होना था वह तो हो चुका।

कमल : अरे यार, मरवा दिया (घबड़ा जाता है) अब क्या होगा ?

हरीश : एक बात है कमल, अगर तुम राजी हो जाओ। मैं उससे कह दूं कि वह खुद तुम्हें जो चाहे बक लें, मारना चाहे मार ले, क्यो ?

कमल : वह कौन ?

हरीश : अरे वही सरला (सब हंसते है)।

कमल : मारो भई चाँद मे जूते, अब क्या करूँ ? तुम्हारी बला से।

हरीश : (गम्भीर होकर) तो कह दूं सरला से कि हम लोगो के सामने वह जो चाहे कर सकती है। यू एग्री ? तब वह प्रिन्सिपल के पास नही जाएगी।

(पास की छात्राओं का दल यह सुनकर हँस पडता है)

हरीश : (निर्मला को सम्बोधन करते हुए) निर्मलाजी, सरलाजी भी हैं क्या ?

निर्मला : सरला ? (चारों ओर देखकर) देखिए, वह जा रही है बरामदे मे।

कमल : अरे हरीश ! उधर ही, ठीक उधर ही प्रिन्सिपल का कमरा है। हाय, हाय हरीश, गजब हो गया। मर गए यार। बचाओ, बचाओ। तुम्हारी कसम मैं जहर खा लूंगा।

हरीश : विश्वास रखो। वह हमसे बाहर नही है कमल.........।

कमल : अरे, अरे, वह घुमी प्रिन्सिपल के कमरे में......।

हरीश : नही, इम्पॉसिबल। हम से पूछे बिना नही जा सकती। (तभी सरला प्रिन्सिपल के रूम से आगे बढ जाती है) देख लो, चली गई न आगे ?..... ...

अच्छा, देखो मुझे एक विचार सूझा है। इन छात्राओ के झुण्ड में प्रमिलाजी भी हैं। उन्हें मध्यस्थ बनाकर सरलाजी को शान्त किया जा सकता है और केस को आगे बढ़ने से रोका जा सकता है।

कमल : (उदासी मे) अच्छा भाई, तुमने तो कसर रखी नही—(स्वस्थ होकर) प्रमिलाजी, जरा सुनिए, आपसे एक बात करनी है।

प्रमिला : आइए कमल जी, हाँ आइए, हम सभी हैं, कहिए न ।

कमल : नहीं बस बात ही मैं कुछ कहना है ।

प्रमिला : अच्छा, अच्छा, बताइ......... कहिए ?

कमल : देखिए, कल की मीटिंग में आप भी थीं । हरीश ने एक भाषण दिया था । मुझे वह अच्छा लगा । और मैंने उसकी प्रशंसा में एक कागज—मैं खास बात तो कुछ नहीं, पर दस्तखत कर दिए थे लिखकर । अब बात यह है कि हरीश ने उसे सरलाजी को दे दिया है । मैं जानता हूँ आप सब मुझ पर हँस रही हैं, पर मैं वास्तव में निर्दोष हूँ...........।

प्रमिला : क्या लिखा था आपने ऐसा, बताइए तो सही ।

हरीश : अभी मैं बताता हूँ, इन्होंने लिखा था : 'मैं तुमसे प्यार करता हूँ—कमल ।'

(सब का सम्मिलित रूप से हँसना, निर्मला का आना)

निर्मला : क्या बात है प्रमिला ?

प्रमिला : नीरू, यह जो कमलजी हैं न, इन्होंने यह लिख कर कि 'मैं तुमसे प्यार करता हूँ—कमल' हरीश के साथ सरलाजी को भिजवा दिया है । ह... ह...ह ...ह..........अब घबरा रहे हैं, माफी माँग रहे हैं ।

कमल : प्रमिलाजी ! यह असल में मेरी जिन्दगी का प्रश्न है—आप सरलाजी को समझाइए, कहीं वह प्रिन्सिपल को न दे दें ।

हरीश : देखिए निर्मलाजी, यह काम आपका है, सरलाजी को समझाइए कि किसी तरह वे शान्त हो जायें, अगर कहीं वह चिट उन्होंने प्रिन्सिपल को दे दी........?

निर्मला : सो तो उन्हें देना ही है, हम लोग कहकर दिलवाएँगी ! आपको यह साहस हुआ कैसे ?

कमल : (घिग्घी बँध जाती है) देखिए, सोचिए, मैं क्या कहूँ.......आप तो जानती ही हैं...........।

प्रमिला : ठहरिए कमलजी, यह क्या कर रहे हैं आप ? मैं बुलाती हूँ सरला को—सरला, ओ सरला............!

सरला : भाई, कहिए आज कैसे याद कर लिया आपने ?

प्रमिला : देखिए सरलाजी, कमलजी को तो आप जानती है, इनके साथ एक मज़ाक हो गया। हुआ यह कि.........।

हरीश : अजी कुछ भी तो नही हुआ। मेरी बात सुनिए—यह एक कागज है (जेब में निकालता है) मेरा एक टेस्टीमोनियल है—कमलजी ने दिया था। मैंने पहले इसे खोजा, तो यह मिला नही था। थोड़ी देर पहले जेब में ही मिल गया, लिखा है . 'मैं तुमसे प्यार करता हूँ—कमल।'

कमल : ओ हो"""(सिर ठोक लेता है—सब हँसते हैं)

पटाक्षेप

●

भारत की बेटी

●

त्रिलोक गोयल

प्रथम-दृश्य

स्थान : सीमान्ती नगर बाड़मेर के एक साधारण परिवार का मकान।

समय : मध्याह्न।

(अल्लाहबक्स उर्फ श्यामलाल की पत्नी रमाबाई तथा उसके कई बच्चे जूते, झाड़ू, चिमटा, फटा बांस, बेलन आदि एकत्रित कर रहे हैं)

रमावाई : (लहँगा-लुगड़ी, मोटी-सी नथ पहने भारी भरकम-सी) ललुआ वह कोने वाला मूसल तो उठा ला, सुना है वह मूंडी काटा शत्रु फिर यहाँ तक आ मरा है, इसी मूसल से उस कम्बख्त की खोपड़ी चकनाचूर नहीं की तो मेरा नाम भी रमावाई नहीं। हूं।

(अल्लाहवक्स का हलुआ खाते हुए यवन-वेश में प्रवेश)

अल्लाहवक्स : ललुआ की माँ ! ओ ललुआ की अम्मा !!

रमाबाई : क्या है कलुआ के बापू ! सुबह से शाम तक हलुआ खाने के अलावा और कोई काम भी है तुम्हें ? मुआ मुँह है या भाड़ ?

अल्लाहवक्स : अरी मरा वाई.......

रमावाई : (चीखकर) मरा वाई नहीं...रमावाई—रमावाई—छोटा-सा नाम भी याद नहीं रहता !

अल्लाहवक्स : (कान पकड़कर) अरे रमावाई, आज तो तुम्हारे ग्यारहवें ललवा का जलवा (पुत्र जन्म का उत्साह) है—आज भी नहीं खाऊँगा, तो फिर कब खाऊँगा ? अब हुई है पूरी फुटबॉल की टीम तैयार।

रमाबाई : फिर मेरे बच्चों को मुँह लाये—कितनी बार कह चुकी हूँ कि तुम इन्हें गिना न करो—कहाँ थी तुम्हारे भाग्य में सन्तान—पुष्करजी मे काती नही नहाती, तो इस घर का आँगन सूना ही था।

अल्लाहबक्स : पुष्करजी की कृपा नही—ख्वाजा साहब की कहो, ख्वाजा साहब की। न तो हम उर्स पर जाते, न दरगाह मे मनौती करते और न ये रेजगारी होती। पर भगवती, अब तो इस आँगन की चहल-पहल और मत बढ़ाओ, पूरी एक फौज हो गई है, फौज।

रमाबाई : तुम्हारे मुँह मे खाक। फौज नही होगी, तो इन पाकिस्तानी लुटेरो से लडेगा कौन, तुम? तुम तो मुसलमान हो ना, तुम्हे इसकी चिन्ता थोड़े ही है।

अल्लाहबक्स : मुसलमान अल्लाहबक्स तो मैं घर से बाहर हूँ रमा, तुम्हारे पास तो मैं सदा हिन्दू श्यामलाल ही बनकर रहता हूँ।

रमाबाई . मैं किसी अल्लाहबक्स को नहीं जानती, रमा ने जिसको प्यार किया था, जिसके लिए माँ-बाप, जाति-समाज, धन-दौलत और धर्म त्यागा था, वह श्यामलाल एक हिन्दू था।

अल्लाहबक्स : यह ठीक है रमाबाई, पर तुम्हारे हिन्दू-समाज ने मुझे अछूत कह कर जिस प्रकार का बर्ताव मेरे साथ किया, वह भुलाया नही जा सकता। तुम्हारे मन्दिरों से मुझे धक्के देकर निकाला गया। तुम्हारी प्याऊ से मुझे प्यासा लौटना पडा। ऐसे क्रूर समाज की रक्षा मैं क्यों करूँ? यदि मैं मुसलमान न बन जाता, तो कलुआ के पिता को आज हलुआ नही, मलवा खाना पड़ता, मलवा।

रमाबाई : मैं कहती हूँ, धर्म बदलने से मलवा खाना अधिक अच्छा होता।

अल्लाहबक्स : आग लगे इन धर्मों मे जो घर में, समाज में, देश मे कलह करा दें। रमाबाई, तुम्हारे-मेरे बीच मे कभी धर्म नही आया। जो तुम्हे जँचा तुमने किया, जो मुझे जँचा मैने किया। हम तो यही समझते रहे कि हम इन्सान हैं, केवल इन्सान, जो एक दूसरे को प्यार करते है।

अल्लाहबक्स : अरी मेरी फुलझड़ी, मैं तो इसलिए आया था कि हलवे के साथ कुछ आलू के भजिये भी तलवा दो, तो मज़ा आ जाये। ये बहार के दिन कोई रोज़-रोज़ थोड़े ही आते है। पर नहीं, तू नहीं मानेगी।

रमाबाई : तुम्हीं मेरी कौन-सी बात मानते हो, जो मैं तुम्हारी मानूँ। कितने दिन हो गये कहते-कहते 'शहीद' पिक्चर आया है, दिखादो, पर इस कान से सुनी, उससे निकाल दी।

अल्लाहबक्स : अरी भागवान, नाराज क्यों होती हो ? लो देखो, आज सिनेमा के मालिक से कहकर पूरे कुनबे के लिए पास बनवा लाया हूँ।

रमाबाई : (खुश होकर) अरे कलवा, ललवा जल्दी तैयार हो जाओ, देखो तुम्हारे बापू सिनेमा के पास ले आये—तो अब आप भी जल्दी तैयार हो लो, तब तक मैं चाय और भजिये तैयार कर देती हूँ।

अल्लाहबक्स : मुझे दुःख है रमा कि मैं तुम लोगों के साथ नहीं चल सकूँगा, एक जरूरी काम याद आ गया है। आज तुम्हीं लोग चले जाओ, फिर कभी साथ चलेंगे।

रमाबाई : यह नहीं होने का—छटे-छमास तो सिनेमा देखने जाऊँ, वह भी अकेली ?

अल्लाहबक्स : अकेली क्यों रमा—तुम्हारी प्यारी पड़ोसिन कनक कटोरी को भी ले जाना—सहेलियों के साथ जाने का मजा कुछ और ही है। पर हाँ, जरा नीचे वाले तहखाने की चाबी देती जाना।

रमाबाई : क्यों ? उसमें क्या काम है।

अल्लाहबक्स : अरी मर्दों के कई काम होते है। हर काम कोई बताये थोड़े ही जाते है।

रमाबाई : (मुँह बिगाड़ कर) मर्दों के काम तहखानों में होते है—या लड़ाई के मैदानों में। मर्द तो अब्दुलहमीद था, जिसने जंग में लड़कर देश के लिए जान दे दी।

अल्लाहबक्स : वह मुसलमानों में गद्दार था।

रमाबाई : गद्दार तो तुम हो, जो भारत का अन्न-जल खाकर भी उसके लिए वफादार नहीं हो।

सचमुच रमा सिनेमा देखने गई है, देखें, क्या होता है ?

(प्रस्थान)

दृश्य दो

(स्थान : तहखाना—समय : सन्ध्या ७ बजे)

(अल्लाहबक्स का ट्रान्समीटर लिए धीरे-धीरे छिपते हुए प्रवेश, बार-बार झांकता है)

अल्लाहबक्स : हलो-हलो-कौन.. पार...हाँ, मैं अल्लाहबक्स बोल रहा हूँ—हलो—कोई खतरा नहीं—यहाँ कोई नहीं है, मैं पूरा सावधान हूँ...रमा ? रमा को मैंने सिनेमा भेज दिया है—हलो—देखिये, मैंने राडार मशीनवाले को अपनी तरफ मिला लिया है, वह एक लाख रुपया माँगता है—काम हो जाएगा। वह आपके आने वाले हवाईजहाजों की सूचना नहीं देगा...कैसे ? (हँसकर) कह देगा, मशीन खराब हो गई, कुछ गड़बड़ी कर दूँगा...हाँ, तो आज रात को १२ बजकर ४० मिनट पर हमला कर दें, सब ठीक-ठाक कर लिया है, पर मेरा इनाम...क्या कहा ? मेरा सौदा मंजूर है, कल काम बनते ही एक लाख उसके और एक लाख मेरे पहुँच जायेंगे। शुक्रिया—शुक्रिया साहब, बहुत शुक्रिया—अरु. .(अट्टहास) अजी शक काहे का—मैं हिन्दुओं में हिन्दू हूँ, मुसलमानों में मुसलमान, ये चाल खूब काम कर रही है।

(रमा का मूसल लिये प्रवेश—उसकी खोपड़ी पर दनादन वार करते हुए, क्रोध में चीखते हुए)

रमाबाई : ठहर चाण्डाल ! अभी तेरी सारी चाल निकालती हूँ—मुझे पता नहीं था, तू इतना नीच है। ले, और ले (मारना) कुत्ते, कमीने और कर जासूसी।

(चीख के साथ अल्लाहबक्स का गिर पड़ना)

अल्लाहबक्स : आह ! मुझे मेरी करनी का फल मिल गया—रमा, मेरी रमा... (मर जाता है)

रमाबाई : (खून से लथपथ लाश का मस्तक गोद में लेकर) वाह रे नसीब, जिसे अपने प्राणों से प्यारा समझा, उसे ही अपने हाथों से मारना पड़ा। (बिलखते हुए खूनी हाथों को देखकर) मेरे ये हाथ टूट क्यों नहीं गये—यह मूसल जल क्यों नहीं गया—आज इस घर से एक नहीं, दो लाशें निकलेंगी, पति के बिना पत्नी क्या—आ प्यारे मूसल आ—तूने मेरे श्याम के प्राण लिये हैं, अब उसकी रमा के भी प्राण ले। (मूसल उठाना—ठहरना) नहीं, मैं अभी नहीं मर सकती—पहले मुझे इसकी सूचना पुलिस को देनी होगी, वरना वह दुष्ट राडार मशीन को खराब कर देगा, रात को हमला हो जावेगा—उसे पकड़वाना जरूरी है—उसे पकड़वाना जरूरी है।

(पुलिस इन्सपेक्टर का दो सिपाहियों के साथ प्रवेश)

इन्सपेक्टर : किसे पकड़ाना जरूरी है (चौंककर) अरे यह क्या खून—यह सब क्या माजरा है ?

सिपाही : हुजूर ये रहा ट्रान्समीटर —आपका अंदाज़ा सही रहा।

इन्सपेक्टर : इस स्त्री को पकड़ लो (सिपाही पकड़ते हैं)

रमाबाई : मैं तो खुद ही थाने में आ रही थी—पर सरकार यहाँ कैसे आ पहुँचे ?

इन्सपेक्टर : सरकारी विभाग से खबर आई कि इस एरिये से अभी-अभी किसी ने ट्रान्समीटर से पाकिस्तान से बात की है, उसकी आवाज अचानक हमारे यन्त्रों ने पकड़ ली - खबर मिलते ही मैं पता लगाते हुए यहाँ आ पहुँचा। पर तुम सारी बात साफ-साफ बताओ, आखिर यह सब क्या तूफान है ?

रमाबाई : इन्सपेक्टर साहब, यह मेरा पति अल्लाहबक्स उर्फ श्यामलाल है। यह लोभ के कारण पाकिस्तान की जासूसी कर रहा था। इसने एक लाख रुपये में आपके राडार मशीनवाले को भी अपनी तरफ मिला लिया है। उसे जल्दी गिरफ्तार कीजिये, आज रात को १२ बजे बाद पाक का हमला होगा।

इन्सपेक्टर : यह सब तुम कैसे जानती हो ?

रमाबाई : मैंने यहाँ छुपकर इसकी सारी बातें अपने कानों से सुनी हैं और इसीलिए मैंने इस गद्दार का खून कर दिया—अकेली औरत और कर भी क्या सकती थी ?

इन्सपेक्टर : बेटी, तुमने बहुत बड़ा काम किया है—तुमने अपने पति का खून करके देश के हजारों आदमियों को बचा लिया, वास्तव में तुम धन्य हो।

रमाबाई : आपने मुझे बेटी कहा है—थानेदार साहब, अब मेरे बच्चे आपके हवाले हैं—मैं वहीं जाती हूँ जहाँ मेरा पति गया—मैं अपना फर्ज पूरा कर चुकी, अब मेरा यहाँ क्या काम है ? वहाँ जाकर उनसे माफी माँगनी पड़ेगी।

(मूसल से अपना सर फोड़ना चाहती है—इन्सपेक्टर पकड़ लेता है)

इन्सपेक्टर : यह क्या कर रही हो बेटी, इतनी समझदार होकर आत्मघात जैसा बुरा काम - अभी तो तुम्हारे बच्चों और तुम्हारे देश को तुम्हारी बहुत जरूरत है। तुम्हें मेरे साथ थाने चलना होगा।

रमाबाई : मैं आपको हाथ जोड़ती हूँ इन्सपेक्टर साहब, मुझे मरने दीजिये !

इन्सपेक्टर यह कैसे हो सकता है, न्याय को अपने हाथ में न लो—तुम खुद भी अपने कर्त्तव्य से गिरना चाहती हो और मुझे भी गिराना चाहती हो—उठो, चलो !

रमाबाई चलिये इन्सपेक्टर साहब, जैसा आप उचित समझें, वही सही।

इन्सपेक्टर चलो बेटी, शीघ्र चलो। अभी तो उस राडार मशीन वाले चालक को पकड़ना है। जब तक इस देश में तुम जैसी बहू-बेटियाँ हैं, तब तक एक चीन और पाक तो क्या, संसार की कोई भी शक्ति भारत की ओर आँख उठा कर नहीं देख सकती !

(प्रस्थान)

दृश्य तीन

(स्थान : बाजार)

(एक अखबार-विक्रेता चिल्लाते हुए)

अखबार-विक्रेता : (चिल्लाते हुए) पत्नी ने पति का खून करके देश की रक्षा की। दुष्ट राडार-चालक को आजन्म कठोर कारावास। रमाबाई का नगर की ओर से सार्वजनिक स्वागत—जनता की ओर से एक लाख रुपये की थैली भेंट—सरकार ने रमाबाई को वीरचक्र की उपाधि से विभूषित किया। पति की अन्त्येष्टि के पश्चात् रमाबाई ने सीमा पर घायलों की सेवा करने की घोषणा की—जनता की ओर से मिली सहायता को रमाबाई ने रक्षाकोष में दे दिया। राष्ट्रपति ने रमा से राखी बँधवाकर उन्हें सम्मान दिया।

पटाक्षेप

आसक्ति का दुःख

शान्तीदेवी पंड्या

हृदय-वीणा झंकृत होने से पूर्व ही अस्त-व्यस्त हो उठी। जीवन के मधुर गान अतीत के गर्भ में विलीन हो गये।

गुंजित स्वर भरने के लिए, जीवन-राग अलापने के लिए, चढ़ाये गये तार एक करुण आह भर कर पलक झपकते धराशायी हो गये, टूट गये, छिन्न-भिन्न हो गये, बिखर गये, और साथ ही नष्ट कर दिया मेरे सुख-स्वप्नों को, एवं भर दिया मेरे अन्तस्तल को सदा-सदा के लिए, करुण आशाओं से, अभिशापों से।

मेरी इस दुर्गति को देखकर जीवनदाता स्वच्छन्द समीर अवरुद्ध हो गया, क्षुब्ध हो गया।

स्नेहमयी ममता ने द्रवित हो अंचल में अपना मुँह छिपा लिया।

विस्तृत अम्बर में अठखेलियाँ करने वाले नक्षत्र-गण क्रीड़ा भूल, ओस के आँसू बहाने लगे।

अविचल भूधर डगमगा उठे और लहराता हुआ सिन्धु पीड़ा से कराह उठा, स्तम्भित हो गया, ठिठक गया।

संसार के कण-कण से करुण नाद फूट पड़ा और अनायास ही उमड़ पड़े मेरे प्रति सांत्वना के दो शब्द

भोली बालिके! इतनी अधीर न बनो। यह संसार तो अनित्य है। जो बना है, वह एक दिन नष्ट होगा ही।

सन्तोष धारण करो और विवेक से काम लो।

इस दुनिया में कौन किसका हुआ है? और कौन किसका होगा?

आसक्ति ही दुःख की मूल जड़ है।